शिला-साक्ष्य

दिगंबर जैन शिलालेखों और पुरातात्विक साक्ष्यों का कालानुक्रमिक इतिहास

ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी से वर्तमान समय तक

पूर्ण संस्करण — भाग एक से भाग आठ तक

भूमिका

यह दिगंबर जैन धर्म की वह कथा है, जो उसके अपने बचे हुए पत्थरों, मूर्तियों और शिलालेखों की जुबानी कही गई है — उसी क्रम में संजोई गई, जिस क्रम में ये पत्थर तराशे गए थे: राजस्थान की पहाड़ियों में मिले तेईस सदी पुराने एक टूटे हुए टुकड़े से लेकर, एक मुग़ल बादशाह के अपने राजमहल की भूमि के नीचे से फिर खोजे गए एक भूले-बिसरे नगर तक। हर अध्याय में एक ही सूत्र दोहराया जाता है — तीर्थंकर की वह निर्वस्त्र, निरलंकार, दिगंबर मूर्ति, खड़ी अथवा पूर्ण ध्यानमग्न बैठी हुई, ठीक वैसे ही जैसे दिगंबर परंपरा सदा से मानती आई है कि सचमुच मुक्त आत्मा को दिखाया जाना चाहिए — जिसके पास त्यागने को अब कुछ शेष नहीं, क्योंकि छोड़ने को कुछ बचा ही नहीं। जहाँ कहीं भी किसी राजवंश, किसी राजा, किसी रानी, किसी सेनापति अथवा किसी सामान्य श्रद्धालु परिवार ने इस मूर्ति से जुड़ा कोई तिथियुक्त शिलालेख छोड़ा है, इस पुस्तक ने उसे ढूँढ़कर नाम सहित दर्ज करने का प्रयास किया है।

यह दिगंबर इतिहास का दिगंबर दृष्टिकोण से लिखा गया वृत्तांत है। जहाँ कोई दावा केवल श्वेतांबर अथवा बौद्ध कथा-साहित्य पर ही टिका है, वहाँ यह पुस्तक उसे अलग रखकर उसे प्राथमिकता देती है जो पत्थर और ताम्र-पत्रों में आज भी सुरक्षित है — वह भौतिक प्रमाण, जिसके सामने आज भी कोई तीर्थयात्री खड़ा हो सकता है। साथ ही यह पुस्तक बड़ी सावधानी से परंपरा और शिलालेख, दोनों को उनके अपने-अपने स्थान पर रखने का प्रयास करती है — इसलिए नहीं कि किसी आचार्य-परंपरा में सदियों से चली आ रही स्मृति किसी तिथियुक्त पत्थर से कम मूल्यवान है, बल्कि इसलिए कि दोनों को उनके यथार्थ रूप में सम्मान मिलना चाहिए।

यह इतिहास सर्वत्र बाबू कामता प्रसाद जैन की कृति "Some Historical Jaina Kings and Heroes" (1941) पर आधारित है, साथ ही भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण की उत्खनन रिपोर्टों और उन शिलालेख-विशेषज्ञों पर भी, जिनके नाम इन पन्नों में बार-बार आते हैं — ओझा, कनिंघम, भगवानलाल इंद्रजी, फ्यूहरर, जायसवाल, सरकार, और इनके अतिरिक्त भी कई विद्वान — जिन्होंने अपने जीवन का बड़ा भाग इस कथा को धरती से वापस पढ़ने में लगा दिया।

बाईस अध्यायों में, आठ भागों में विभाजित, यह कथा ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी से लेकर वर्तमान समय तक की यात्रा कराती है।

संपूर्ण कालक्रम

भाग एक — प्राचीनतम दिगंबर अभिलेख

१. बार्ली शिलालेख, राजस्थान

२. लोहानीपुर धड़, पटना

३. चंद्रगुप्त, भद्रबाहु और मौर्य-शुंग अभिलेख

भाग दो — खारवेल का कलिंग (लगभग २०० से १०० ईसा-पूर्व)

४. हाथीगुम्फा शिलालेख और उदयगिरि की गुफाएँ

भाग तीन — कुषाणकालीन मथुरा, दिगंबर स्तूप (पहली शताब्दी ईसा-पूर्व — तीसरी शताब्दी ईस्वी)

५. कंकाली टीला उत्खनन और मथुरा का जैन स्तूप
६. कुषाण दानपत्र-शिलालेख और लखनऊ संग्रहालय संग्रह
७. मथुरा शिल्प में दिगंबर नग्नता: प्रमाण-विवेचन

भाग चार — गुप्त एवं उत्तर-गुप्त सुदृढ़ीकरण (चौथी से सातवीं शताब्दी ईस्वी)

८. गुप्तकालीन जैन मूर्तियाँ और शिलालेख
९. वाकाटककालीन एवं प्रारंभिक दक्कनी दिगंबर स्थापनाएँ

भाग पाँच — दक्कन और कर्नाटक का उत्कर्ष (छठी से बारहवीं शताब्दी ईस्वी)

१०. बादामी चालुक्य जैन गुफा और शिलालेख
११. गंग वंश और श्रवणबेलगोला
१२. गोम्मटेश्वर बाहुबली महाप्रस्तर मूर्ति, ९८१ ईस्वी
१३. राष्ट्रकूट संरक्षण — एलोरा की जैन गुफाएँ
१४. होयसलकालीन जैन स्मारक और शिलालेख

भाग छह — उत्तर एवं मध्य भारत के मध्यकालीन केंद्र (आठवीं से पंद्रहवीं शताब्दी ईस्वी)

१५. ग्वालियर दुर्ग की गोपाचल शैलकृत जैन विशालमूर्तियाँ
१६. देवगढ़ के जैन मंदिर
१७. चौहान वंश और बिजोलिया पार्श्वनाथ शिलालेख
१८. खजुराहो जैन मंदिर समूह
१९. सोनागिरि, पापौराजी और बुंदेलखंड के दिगंबर तीर्थ

भाग सात — सल्तनत-मुग़लकालीन अवशेष (पंद्रहवीं से अठारहवीं शताब्दी ईस्वी)

२०. बीरछबीली टीला, सीकरी — फ़तेहपुर सीकरी के नीचे दबा जैन नगर
२१. कारकल और मूडबिद्री — विजयनगरकालीन कर्नाटक की विशालमूर्तियाँ

भाग आठ — औपनिवेशिक पुनर्खोज एवं आधुनिक पुरातत्व (उन्नीसवीं शताब्दी — वर्तमान)

२२. अलेक्ज़ेंडर कनिंघम, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, और दिगंबर भारत की आधुनिक पुनर्खोज

भाग एक

प्राचीनतम दिगंबर अभिलेख

मौर्यकाल के आसपास और उससे पूर्व

अध्याय एक — बार्ली शिलालेख

१.१ अरावली की तलहटी में एक पत्थर

सन् १९१२ में इतिहासकार गौरीशंकर हीराचंद ओझा अजमेर के दक्षिण-पूर्व की पहाड़ी पट्टी में काम कर रहे थे, तभी बार्ली कस्बे के निकट भिनायका गाँव में उन्हें एक पत्थर के खंभे का टूटा हुआ टुकड़ा मिला — मुश्किल से तेरह इंच लंबा और दस इंच चौड़ा, इतना छोटा कि आसानी से नज़रअंदाज़ किया जा सकता था, फिर भी उसकी सतह पर ब्राह्मी लिपि की कुछ पंक्तियाँ खुदी थीं, जो आगे चलकर भारत में कहीं भी मिले जैन श्रद्धा के सबसे पुराने बचे हुए अभिलेखों में से एक साबित हुईं। ओझा, जिन्होंने आगे चलकर अजमेर में राजपूताना संग्रहालय की स्थापना की और आधुनिक राजस्थानी शिलालेख-विद्या की नींव भी काफी हद तक स्वयं रखी, ने शीघ्र ही इस पत्थर का अपना वाचन प्रकाशित किया, और यह अभिलेख इतिहास में सीधे-सीधे "बार्ली शिलालेख" के नाम से दर्ज हो गया। यह किसी राजा की घोषणा नहीं है। यह इससे कहीं छोटा और कहीं अधिक आत्मीय है — किसी एक भक्त द्वारा या उसके लिए उत्कीर्ण एक व्यक्तिगत भेंट, जो किसी भगवान, किसी प्रभु को संबोधित है।

१.२ पत्थर क्या कहता है

यह अभिलेख प्राकृत भाषा में है और आरंभिक ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण है। ओझा ने इसके बचे हुए शब्दों को "वीरय भगवते चतुरासीति वसे" पढ़ा — अर्थात "चौरासीवें वर्ष में भगवान वीर को समर्पित।" "वीर" से आशय भगवान वर्धमान महावीर, चौबीसवें तीर्थंकर, से है, जिन्हें यहाँ उसी "भगवान" सम्मानसूचक शब्द से संबोधित किया गया है, जो इस पूरे इतिहास में जाँचे गए लगभग हर अभिलेख में गूँजता मिलता है। "चौरासीवाँ वर्ष" सबसे स्वाभाविक रूप से महावीर के अपने निर्वाण से गिने जाने वाले किसी संवत् की ओर संकेत करता है — बाद की जैन गणना के अनुसार यह निर्वाण ईसा-पूर्व ५२७ अथवा ५१० में माना गया है। कुछ विद्वानों, जिनमें डी.सी. सरकार भी शामिल हैं, ने इस खंडित पाठ को अलग ढंग से पढ़ा है और इसे शुंग राजा भागवत से जोड़ा है — किंतु इस वाचन को मान लेने पर भी, प्राचीन राजस्थान के इसी कोने में स्थित किसी जैन श्रद्धा-स्थल से इस पत्थर के संबंध पर किसी को गंभीर संदेह नहीं है।

१.३ बार्ली सचमुच कितना प्राचीन है?

ओझा की अपनी गणना इस पत्थर को लगभग ईसा-पूर्व ४४३ में रखती है — यदि यह सही हो, तो यह भारत के सर्वाधिक प्राचीन तिथियुक्त अभिलेखों में से एक ठहरेगा, अशोक के अपने शिलालेखों से भी पुराना। बाद के शिलालेख-विशेषज्ञों ने, अभिलेख के अक्षरों की बनावट के आधार पर, प्रायः कुछ बाद की समयावधि — ईसा-पूर्व दूसरी अथवा पहली शताब्दी — को प्राथमिकता दी है; इतिहासकार डॉ. रीमा हूजा ने इसके बीच का एक मध्यम मार्ग सुझाया है — ईसा-पूर्व पाँचवीं अथवा चौथी शताब्दी। यह इतिहास इस पत्थर को वहीं रहने देने में सहज है, जहाँ इसे लिखने वाला भक्त और जिस परंपरा से यह जुड़ा है, वे इसे सबसे भली-भाँति पहचान सकें — मोटे तौर पर इन्हीं शताब्दियों के भीतर, कार्यकारी तिथि के रूप में लगभग ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी मानते हुए — जो इनमें से किसी भी वाचन पर, बार्ली को भारत के सबसे प्राचीन जैन अभिलेखों में गिनने के लिए पर्याप्त रूप से प्रारंभिक है।

१.४ बार्ली इस कथा को क्या देता है

इस इतिहास में आगे शायद और कुछ भी बता पाए, उससे पहले बार्ली हमें यह बता देता है कि जैन धर्म राजस्थान में कोई देर से आने वाला मेहमान नहीं था, जो मध्यकाल के व्यापारी संघों और मंदिर-निर्माताओं के साथ ही यहाँ पहुँचा हो। वह उसी युग में यहाँ पहले से मौजूद था — इतना संगठित कि पत्थर पर उत्कीर्णन का आदेश दे सके, इतना श्रद्धावान कि महावीर को नाम लेकर संबोधित कर सके — जिस युग ने दूर पूर्व में लोहानीपुर धड़ और अशोक के प्रथम महान मौर्य शिलालेख भी रचे। इस पत्थर में कहीं भी दिगंबर या श्वेतांबर का उल्लेख नहीं है; इन आरंभिक शताब्दियों में, इससे पहले कि समुदाय की दोनों बड़ी धाराएँ पूरी तरह अलग हो जातीं, ऐसी कोई भेंट बस उन सभी की थी जो भगवान वीर से प्रेम करते थे। अगले अध्याय में ही, पत्थर की एक नग्न मूर्ति के साथ, यह इतिहास विशेष रूप से दिगंबर सूत्र को शब्दों के साथ-साथ दृश्य रूप में भी पहचानना आरंभ कर सकेगा।

अध्याय दो — लोहानीपुर धड़

२.१ मौर्य राजधानी के नीचे

आज का पटना नगर प्राचीन पाटलिपुत्र के ऊपर बसा है — चंद्रगुप्त, बिंदुसार और अशोक के अधीन मौर्य साम्राज्य की राजधानी — और इस नगर का दबा हुआ अतीत जहाँ भी भूमि खोदी जाती है, टुकड़ों में सतह पर आ जाता है। कनिंघम के समकालीनों ने पहले ही इसे उजागर करना आरंभ कर दिया था — एल.ए. वैडेल ने १८९५ में बुलंदी बाग़ में, और डेविड ब्रेनार्ड स्पूनर ने १९१२-१३ में कुम्हरार में, जहाँ अस्सी-स्तंभों वाले एक मौर्य सभा-भवन का पहला स्तंभ प्रकाश में आया। इसी समृद्ध भूमि में, सन् १९३७ में, लोहानीपुर नामक स्थान पर उत्खननकर्ताओं ने खुदाई की।

२.२ दो धड़ और एक मौर्य मंदिर

लोहानीपुर की भूमि से जो निकला, वे थे सुंदर चमकीले पॉलिशदार बलुआ पत्थर के दो धड़, जो एक छोटे वर्गाकार मंदिर के अवशेषों में मिले — बड़ी मूर्ति लगभग दो फुट ऊँची, और उसकी छोटी संगिनी, लोहानीपुर द्वितीय, मात्र एक फुट ऊँची। इस खोज का दस्तावेज़ीकरण करने वाले इतिहासकार के.पी. जायसवाल ने इन्हीं नींवों से एक मौर्यकालीन सिक्का और मौर्यकालीन ईंट मिलने का भी उल्लेख किया। दोनों मूर्तियाँ पूर्णतः नग्न खड़ी हैं, बिना किसी वस्त्र या आभूषण के, उसी कायोत्सर्ग ध्यान-मुद्रा में, जिसे दिगंबर कला ने आगामी दो हज़ार वर्षों तक लगभग अपरिवर्तित रूप में बनाए रखा। जायसवाल ने, और बाद में कला-इतिहासकार एम.ए. ढाकी ने, इन्हें सीधे और आत्मविश्वास के साथ जिन-प्रतिमा के रूप में पहचाना — और साक्ष्यों के भार के अनुसार, इन दोनों में से बड़ी मूर्ति आज भी विद्यमान सबसे प्राचीन दिगंबर तीर्थंकर-मूर्ति मानी जाती है।

२.३ तीसरी शताब्दी का मंदिर

मौर्यकालीन तिथि के पक्ष में तर्क का आधार स्वयं पत्थर की सतह है: एक सूक्ष्म, काँच जैसी चमकदार पॉलिश, जिसे "मौर्य पॉलिश" कहा जाता है — वही तकनीक, जो अशोक के अपने स्तंभों को उनकी असाधारण चमक देती है, और जो मौर्य

कार्यशालाओं के शांत पड़ जाने के कुछ ही समय बाद प्रयोग से बाहर हो गई। मौर्यकालीन सिक्के और ईंट के साथ मिलने के कारण, लोहानीपुर की बड़ी मूर्ति के लिए ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी की तिथि का तर्क उतना ही मज़बूत है, जितना कि बिना किसी लेख के किसी पाषाण-प्रतिमा के लिए संभव है। कुछ गिने-चुने विद्वानों ने इसके बजाय बाद की, कुषाणकालीन तिथि का तर्क दिया है, और मूर्ति के कंधों तथा मुद्रा में उन्हें ग्रीको-रोमन शिल्प-प्रभाव की झलक प्रतीत होती है — यह इतिहास इस मत को दर्ज तो करता है, किंतु उसे स्वीकार नहीं करता, क्योंकि इसे खोज के सिक्के-ईंट संदर्भ और इस लगभग-असंभव तथ्य, दोनों की व्याख्या करनी होगी कि तकनीक लुप्त हो जाने के बाद सच्ची मौर्य पॉलिश को पुनः कैसे उत्पन्न किया गया।

२.४ एक ललचाती तुलना, सम्मानपूर्वक अलग रखी गई

एक और तुलना का ईमानदारी से उल्लेख आवश्यक है। लोहानीपुर मूर्ति की मुद्रा की तुलना अक्सर १९२८-२९ में हड़प्पा से उत्खनित स्लेटी पत्थर के धड़ से की जाती रही है, और इस समानता ने कुछ लेखकों को यह विचार सुझाया है कि जैन मूर्ति-पूजा की जड़ें सिंधु घाटी सभ्यता तक जाती हैं। यह इतिहास इस मार्ग का अनुसरण नहीं करता। हड़प्पा की मूर्ति की अपनी तिथि आज भी वस्तुतः अनिश्चित बनी हुई है, और दो प्राचीन नग्न धड़ों के बीच मुद्रा की समानता, जो किसी भी निष्पक्ष आकलन में एक हज़ार वर्ष से भी अधिक के अंतराल से अलग हैं, अपने-आप में साझा आस्था का प्रमाण नहीं बन जाती। हड़प्पा नहीं, बल्कि लोहानीपुर ही वह स्थान है, जहाँ से इस इतिवृत्त की नग्न जिन-मूर्ति की प्रलेखित कथा वास्तव में आरंभ होती है।

२.५ लोहानीपुर का महत्व क्यों है

तिथि-निर्धारण के सूक्ष्म प्रश्नों पर चाहे कोई भी मत अपनाया जाए, लोहानीपुर धड़ एक बात निर्विवाद रूप से सिद्ध कर देता है, जिसे कोई तर्क छीन नहीं सकता: यह दिगंबर जिन को — नग्नता को ही संपूर्ण त्याग की दृश्य भाषा के रूप में — तीर्थंकर-मूर्ति-कला के तिथियुक्त अभिलेखों के आरंभ-बिंदु पर या उसके अत्यंत निकट स्थापित कर देता है, और वह भी किसी बाद के, हाशिए के दूरस्थ काल में नहीं, बल्कि मौर्य साम्राज्य की सत्ता के केंद्र में। यह धड़ आज पटना संग्रहालय में सुरक्षित है, कुम्हरार की उसी भूमि से कुछ ही दूरी पर, जहाँ इन्हीं वर्षों में मौर्य दरबार का अपना विशाल सभा-भवन उत्खनित हो रहा था।

अध्याय तीन — चंद्रगुप्त, भद्रबाहु और मौर्य-शुंग अभिलेख

३.१ निगंठों के लिए एक सम्राट के अपने शब्द

अशोक के अपने शिलालेखों में एक ऐसी पंक्ति मिलती है, जो इस इतिहास को अपने सबसे मज़बूत आधार-स्तंभों में से एक प्रदान करती है। सातवें स्तंभ-लेख में सम्राट यह अभिलेखित करते हैं कि उन्होंने भारत के प्रमुख धार्मिक समुदायों की देखभाल के लिए किन अधिकारियों को नियुक्त किया — उन्होंने बौद्ध संघ के कार्यों की देखरेख का आदेश दिया, ब्राह्मणों और आजीविकों के कार्यों की देखरेख का भी आदेश दिया, और निगंठों के कार्यों की देखरेख का भी आदेश दिया। "निगंठ" निर्ग्रंथ ही हैं — जैन तपस्वी, जिनका नाम स्वयं सम्राट के हाथ से यहाँ लिखा गया है, बौद्ध संघ के साथ-साथ उनके साम्राज्य के चार महान धार्मिक समुदायों में से एक के रूप में। दूसरे शब्दों में, ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी तक जैन तपस्वी इतनी बड़ी संख्या में और इतने संगठित रूप में विद्यमान थे कि एक सम्राट स्वयं इसकी घोषणा कर सके।

३.२ भद्रबाहु की भविष्यवाणी और सम्राट से मुनि बना एक राजा

दिगंबर स्मृति के अनुसार, आचार्य भद्रबाहु — अंतिम महान श्रुतकेवली, जिन्हें संपूर्ण जैन आगम कंठस्थ था — ने मगध पर मँडराते बारह वर्ष के दुर्भिक्ष का पूर्वाभास किया, और मुनियों के एक विशाल संघ को उस विपत्ति के मार्ग से दूर, दक्षिण-पश्चिम की ओर, आज के कर्नाटक की पहाड़ी भूमि तक ले गए। परंपरा कहती है कि इस संघ में स्वयं चंद्रगुप्त मौर्य भी शामिल थे — साम्राज्य के संस्थापक स्वयं, जिन्होंने अपना राजमुकुट त्यागकर एक साधारण जैन तपस्वी का जीवन अपनाया और भद्रबाहु के संघ में अनेक मुनियों में से एक मुनि के रूप में सम्मिलित हो गए। यह प्रवास लगभग ईसा-पूर्व ३०० के आसपास माना जाता है, और परंपरा के अनुसार गुरु और पूर्व सम्राट, दोनों ने अपने जीवन के अंतिम दिन उसी पहाड़ी पर बिताए, सल्लेखना धारण करते हुए — वह पवित्र उपवास, जो संपूर्ण त्याग के जीवन को क्षय में नहीं, बल्कि शांति में

समाप्त करता है। जिस पहाड़ी पर यह घटना घटित होना स्मरण की जाती है, जिसे कभी कालबप्पु कहा जाता था, वह आज भी चंद्रगुप्त का नाम धारण करती है: चंद्रगिरि।

३.३ चंद्रगिरि पहाड़ी

चंद्रगिरि आज एक हज़ार वर्ष से भी अधिक की संचित श्रद्धा को अपने में समेटे हुए है: बसदियों का एक समूह, जिसमें स्वयं चंद्रगुप्त बसदी भी सम्मिलित है, एक गुफा जहाँ दोनों तपस्वियों के साथ-साथ ध्यान करने की स्मृति सुरक्षित है, और एक शिल्पांकित पट्टिका, जो चंद्रगुप्त द्वारा अपना सिंहासन त्यागने से पूर्व देखे गए स्वप्नों का स्मरण कराती है। इस स्थल के लगभग एक सौ छह निषिधि स्मारक-शिलालेखों में से बानवे अकेले इसी एक पहाड़ी पर स्थित हैं — पीढ़ी-दर-पीढ़ी मुनियों, आर्यिकाओं और श्रावकों की, जिन्होंने अपने जीवन की अंतिम प्रतिज्ञा पूर्ण करने के लिए चंद्रगिरि को ही चुना।

३.४ परंपरा और पत्थर, दोनों अपने-अपने स्थान पर

चंद्रगिरि के जो बचे हुए शिलालेख भद्रबाहु-चंद्रगुप्त कथा का नामोल्लेख करते हैं, उनमें सबसे प्राचीन भी सातवीं-आठवीं शताब्दी ईस्वी अथवा उसके बाद के हैं — अर्थात मूल घटनाओं से लगभग एक हज़ार वर्ष बाद के। इस इतिहास ने आरंभ से ही यह बात स्पष्ट रूप से कहने का प्रयास किया है, बजाय इसके कि किसी प्रिय कथा को चुपचाप किसी तिथियुक्त पत्थर के स्थान पर खड़ा होने दिया जाए। यह अंतराल परंपरा पर संदेह करने का कारण नहीं है; किसी मुनि-परंपरा की अपनी अखंड स्मृति स्वयं में एक प्रकार का प्रमाण है, जो सदियों तक गुरु से शिष्य तक निष्ठापूर्वक प्रवाहित होती रही है, और बाद के संपूर्ण दिगंबर शिलालेख-साक्ष्यों में — जिसमें कामता प्रसाद जैन ने अपनी पुस्तक में एकत्र की गई राजवंशीय सामग्री भी सम्मिलित है — इसकी वास्तविक निरंतरता के साथ पुष्टि होती है। यह बस, ईमानदारी से नामांकित होकर, अशोक के अपने शिलालेख अथवा लोहानीपुर मंदिर के नीचे मिली मौर्य ईंट से भिन्न श्रेणी के प्रमाण की है — गहराई से और निरंतर धारण की गई परंपरा, न कि समकालीन शिलालेख।

३.५ ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी का चित्र

अशोक का निगंठों के लिए प्रयुक्त अपना शब्द, समुदाय की चंद्रगुप्त और भद्रबाहु की अपनी चिरस्थायी स्मृति, और चंद्रगिरि के वे बाद के पत्थर जो उस स्मृति को जीवित रखते हैं — ये तीनों मिलकर उस पूर्ण चित्र को उकेरते हैं, जो यह प्रारंभिक काल हमें दे सकता है: ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी तक, उपमहाद्वीप के दोनों छोरों पर, एक जैन समुदाय पहले से ही इतना संगठित खड़ा था कि एक सम्राट के अपने शिलालेख में उसका नाम आए, और एक-दो पीढ़ियों के भीतर ही, अपनी ही चिरस्थायी स्मृति के अनुसार, कर्नाटक की ओर उसकी यात्रा भी आरंभ हो चुकी थी। अगला अध्याय इस इतिहास को कलिंग ले जाता है, जहाँ पहली बार कोई राजा अपने ही उत्कीर्ण शब्दों में जिन के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करता है।

भाग दो

खारवेल का कलिंग

लगभग ईसा-पूर्व २०० से १००

अध्याय चार — हाथीगुम्फा शिलालेख और उदयगिरि की गुफाएँ

४.१ पत्थर में उकेरा गया एक राजा

आधुनिक भुवनेश्वर के बाहर एक निचली पहाड़ी पर एक उथली, खुली गुफा स्थित है, जिसे स्थानीय लोग लंबे समय से हाथीगुम्फा — हाथी की गुफा — कहते आए हैं। इसकी छत और चट्टान के मुख पर पुरानी ब्राह्मी लिपि की सत्रह घनी पंक्तियाँ उत्कीर्ण हैं — जिन्हें सबसे पहले १८२५ में एक ब्रिटिश अधिकारी ए. स्टर्लिंग ने देखा, फिर बारी-बारी से जेम्स प्रिंसेप और अलेक्जेंडर कनिंघम ने इनका अध्ययन किया, और अंततः उन्नीसवीं शताब्दी में बंबई के विद्वान भगवानलाल इंद्रजी ने यह पहचाना कि यहाँ जिस राजा की प्रशंसा की गई है, उसका नाम खारवेल है — एक ऐसा नाम, जो उस क्षण तक अन्यत्र कहीं नहीं मिला था। के.पी. जायसवाल और आर.डी. बनर्जी ने इस वाचन को और भी परिष्कृत किया। जो आज तक बचा है, अपक्षयित किंतु पठनीय, वह है एक राजा का अपने बारे में स्वयं का वृत्तांत, जो युगों-युगों के लिए अपनी ही गुफा की दीवार पर उत्कीर्ण किया गया।

४.२ खारवेल, जिन के भक्त

खारवेल ने कलिंग पर — लगभग आज के तटीय ओडिशा पर — शासन किया, संभवतः ईसा-पूर्व पहली शताब्दी के उत्तरार्ध में, हालाँकि विद्वान सटीक शताब्दी को लेकर एक सौ वर्षों से बहस करते रहे हैं — किसी यूनानी राजा के नाम के एक प्रसिद्ध आरंभिक ग़लत वाचन ने पूरी कालक्रम-गणना को दो-तीन शताब्दियों तक भटका दिया था, इससे पहले कि इस भूल को पकड़कर सुधारा गया। जिस बात पर अभिलेख कोई संदेह नहीं छोड़ता, वह है स्वयं खारवेल की श्रद्धा: यह अभिलेख उन्हें अर्हतों और सिद्धों का अनुयायी बताते हुए आरंभ होता है, और एक ऐसे राजा का वर्णन करता है, जो सातवाहनों के विरुद्ध पश्चिम की ओर और पुराने मगध क्षेत्र के हृदय-स्थल तक उत्तर में अपनी सेनाएँ भेजने में समर्थ था। वे भारतीय इतिहास के सबसे प्राचीन जैन राजा हैं, जिन्हें हम किसी बाद की किंवदंती से नहीं, बल्कि उनके अपने ही शब्दों से जानते हैं — उनके अपने राज्यकाल में, एक गुफा-भित्ति पर उत्कीर्ण, जो आज भी खड़ी है।

४.३ वर्ष-दर-वर्ष एक राज्यकाल

यह अभिलेख लगभग किसी राजा के अपने इतिवृत्त की तरह पढ़ा जाता है। अपने प्रथम वर्ष में वे तूफ़ान से क्षतिग्रस्त अपनी राजधानी की मरम्मत कराते हैं और उसके उद्यान बनवाते हैं, और इसमें हुए व्यय को सावधानीपूर्वक अभिलेखित भी करते हैं; पाँचवें वर्ष तक वे नंदकालीन एक पुरानी नहर का विस्तार कर चुके होते हैं और अपनी प्रजा के कर माफ़ करके एक राजकीय यज्ञ को चिह्नित करते हैं। मध्य के वर्ष युद्ध और कूटनीति लाते हैं — आठवें वर्ष में गोरधगिरि के पहाड़ी दुर्ग पर आक्रमण, मगध की पुरानी राजधानी पर इतना तीव्र दबाव कि एक यूनानी राजा भागकर मथुरा शरण लेता है, और दसवें वर्ष तक विजय एवं संधियों का व्यापक अभियान। बारहवें और तेरहवें वर्षों तक, प्रतिद्वंद्वी संघों को तोड़कर और मगध के अपने राजाओं को विनम्र बनाकर, खारवेल अपने कठिन परिश्रम से अर्जित धन को अपने ही राज्य के जैन मुनियों की ओर मोड़ते हैं — और इसे उसी सावधानीपूर्वक यथार्थता के साथ अभिलेखित करते हैं, जैसी वे अपने लोकहितकारी कार्यों के लिए देते हैं।

४.४ खोया हुआ कलिंगजिन, फिर से जीता गया

इस अभिलेख की एक पंक्ति जैन इतिहास के लिए लगभग किसी भी अन्य पंक्ति से अधिक महत्वपूर्ण रही है: कलिंगजिन का उल्लेख — एक पवित्र प्रतिमा, अथवा संभवतः उसका सिंहासन — जिसे किसी पूर्ववर्ती नंद राजा ने बहुत पहले कलिंग से हर लिया था, और जिसे स्वयं खारवेल अब वापस घर ले आए। यह एक छोटा, किंतु चौंकाने वाला दावा है: कि कलिंग के पास पहले से ही ऐसी कोई पवित्र वस्तु थी, जो किसी शत्रु के लूट लेने योग्य पर्याप्त पवित्र थी, और इतनी अमूल्य कि एक शताब्दी या उससे अधिक बाद भी उसे वापस पा लेना पत्थर पर गर्वपूर्वक अंकित करने योग्य समझा गया। अधिकांश विद्वान इसे कलिंग में मूर्ति-पूजा के ईसा-पूर्व चौथी शताब्दी तक पहुँचने के प्रमाण के रूप में पढ़ते हैं — जो इस इतिहास में पहले जाँचे गए बार्ली शिलालेख और लोहानीपुर धड़ के बहुत निकट है — यद्यपि कुछ विद्वान, जिनमें कला-इतिहासकार सोन्या क्विंटनिला भी शामिल हैं, यह मान लेने में सावधानी बरतने का आग्रह करते हैं कि यह अवश्य ही कोई मूर्तिरूप प्रतिमा रही होगी, न कि कोई प्रतीक अथवा अवशेष। किसी भी दशा में, यह अंश एक बात की पुष्टि करता है, जिसे थामे रखना उचित है: कलिंग की अपनी जैन श्रद्धा, अपने ही राजा के वर्णन के अनुसार, स्वयं खारवेल के जन्म से बहुत पहले से ही पुरानी और प्रिय थी।

४.५ मुनियों को समर्पित एक पहाड़ी

अभिलेख हमें स्पष्ट रूप से बताता है कि खारवेल ने अपने इस कठिन परिश्रम से अर्जित धन का कुछ भाग किस प्रकार व्यय किया: उन्होंने कुमारी पहाड़ी — आज के उदयगिरि और खंडगिरि — में अर्हतों के विश्राम-स्थल के रूप में कोठरियाँ कटवाईं। अगली शताब्दियों में दोनों पहाड़ियाँ ऐसी दर्जनों कोठरियों से भर गईं, जिनमें दो मंज़िला सुंदर रानी गुम्फा — रानी की गुफा — भी सम्मिलित है, जिसकी निचली मंज़िल में मुनियों के सादे कक्षों की एक पंक्ति है, और ऊपरी मंज़िल एक खुली, स्तंभयुक्त दीर्घा है, जिसे कभी शोभायात्राओं और राजदरबारी दृश्यों से उत्कीर्ण किया गया था, जिन पर विद्वानों में आज भी बहस जारी है। ये कोठरियाँ लगभग तपस्या-जैसी सादगी तक नंगी हैं — पत्थर का एक ऐसा कक्ष, जो मुश्किल से लेटने भर के लिए पर्याप्त है, तकिए के लिए पत्थर की एक उभरी हुई कगार के साथ — वही त्यागमय सादगी, जिसे लोहानीपुर के नग्न जिन ने एक-दो शताब्दी पहले ही मूर्तिरूप में ढाल दिया था।

४.६ खारवेल इस इतिहास को क्या देते हैं

बार्ली ने इस इतिवृत्त को अपना सबसे प्राचीन श्रद्धा-शब्द दिया; लोहानीपुर ने इसे अपनी सबसे प्राचीन मूर्तिरूप छवि दी; खारवेल इसे वह देते हैं, जो इनमें से अकेले कोई भी नहीं दे सकता था — एक राजा की अपनी वाणी, अपने ही राज्यकाल में, स्वयं को जिन का अनुयायी बताते हुए, अपने जन्म से एक शताब्दी पहले ही किसी पवित्र प्रतिमा के लिए लड़े गए संघर्ष का स्मरण करते हुए, और अपने ही समुदाय के मुनियों के लिए एक पहाड़ी भर कोठरियाँ कटवाते हुए। इसमें से कुछ भी किसी श्वेतांबर इतिवृत्त अथवा सदियों बाद लिखी गई किसी बौद्ध कथा पर निर्भर नहीं है। यह केवल एक राजा के अपने बारे में बोलने पर निर्भर है, ठीक इसी उद्देश्य के लिए उत्कीर्ण एक भित्ति पर, एक ऐसी गुफा में, जो आज भी आगंतुकों का स्वागत करती है। कलिंग से, यह कथा उत्तर-पश्चिम की ओर मुड़ती है, यमुना के तट की ओर, जहाँ कुषाण शताब्दियाँ भारत में कहीं भी मिलने वाले प्रारंभिक जैन कला और अभिलेखों के सबसे समृद्ध एकल संग्रह को पीछे छोड़ेंगी।

भाग तीन

कुषाणकालीन मथुरा, दिगंबर स्तूप

अध्याय पाँच — कंकाली टीला उत्खनन और मथुरा का जैन स्तूप

५.१ देवी का टीला

पुरानी मथुरा के दक्षिणी छोर पर एक साधारण, अगोचर सा टीला खड़ा है, जिसे कंकाली टीला कहा जाता है — देवी कंकाली के उस छोटे मंदिर के नाम पर, जो आज भी उसके ऊपर विद्यमान है। इसकी शांत सतह से कोई अनुमान नहीं लगता कि उसके नीचे क्या दबा है: भारत में अब तक प्राप्त प्रारंभिक जैन शिल्प और अभिलेखों का सबसे समृद्ध एकल संग्रह, इतना विशाल कि यह अकेला ही मथुरा को इस पूरे इतिवृत्त का महान मोड़-बिंदु कहलाने का औचित्य दे देता है — वह स्थान, जहाँ प्रारंभिक साक्षियों की छितरी हुई मुट्ठी भर संख्या अचानक एक बाढ़ में बदल जाती है। कुषाणकालीन मथुरा एक नदी-पड़ाव, एक व्यापारिक राजधानी, और एक ऐसा नगर था, जहाँ जैन, बौद्ध और ब्राह्मणीय श्रद्धा एक ही घनी बसी भूमि पर साथ-साथ फली-फूली।

५.२ तीस वर्षों की खुदाई

यह टीला अपने ख़ज़ाने धीरे-धीरे, उत्खननकर्ताओं की एक शृंखला के हाथों उगलता गया। अलेक्जेंडर कनिंघम ने १८७१ में और फिर १८८१-८२ में इसकी पश्चिमी खाइयाँ खोलीं; एफ.एस. ग्रोज़ ने १८७५ में इसके उत्तरी भाग पर कार्य किया; और १८८७ से १८९६ के बीच जेम्स बर्गेस और युवा अलोइस एंटन फ्यूहरर स्थिर गति से पूर्व की ओर बढ़ते गए। यह फ्यूहरर ही थे, जिन्होंने १८९०-९१ में खुदाई करते हुए वह खोज की, जिसने इस पूरे प्रयास को शिखर तक पहुँचाया: एक प्राचीन जैन स्तूप और उससे जुड़े दो मंदिरों के दबे हुए अवशेष। जैन शास्त्र सदा से तीर्थंकरों के सम्मान में बनाए गए स्मारकों की बात करते आए थे; यहाँ, पहली बार, एक ऐसा स्मारक वास्तविक धरती में खड़ा मिला।

५.३ एक स्तूप, जिसे प्राचीनकाल के लोग भी कालातीत मानते थे

पहली और दूसरी शताब्दी ईस्वी में इस स्तूप के अपने ही उपासक इसे पहले से ही अकल्पनीय रूप से प्राचीन मानते थे। कुषाण संवत् ७९ — लगभग १५६-१५७ ईस्वी — के एक अभिलेख में इसे देवनिर्मित स्तूप कहा गया है, अर्थात "देवताओं द्वारा निर्मित" — यह उस श्रद्धामय ढंग को दर्शाता है, जिसमें एक प्राचीन समुदाय किसी ऐसे स्मारक की बात करता था, जो इतना पुराना हो चुका था कि उसकी वास्तविक स्थापना की स्मृति ही लुप्त हो चुकी थी। इस टीले से प्राप्त अन्य सामग्री, जो प्राचीन प्राकृत लिपि में उत्कीर्ण है और जिसे विद्वानों ने लगभग ईसा-पूर्व १५० अथवा उससे भी पहले की तिथि दी है, उसी निष्कर्ष का समर्थन करती है: फ्यूहरर द्वारा अंततः प्रकाश में लाए गए कुषाणकालीन स्तूप से बहुत पहले से ही इस भूमि पर एक जैन मंदिर खड़ा था।

५.४ श्रद्धा की पट्टिकाएँ

कंकाली टीले से निकाले गए हज़ारों टुकड़ों में से कोई भी सामान्य श्रद्धा की उतनी आत्मीय भाषा में बात नहीं करता, जितनी

आयागपट — समतल पत्थर की श्रद्धा-पट्टिकाएँ, जिनके केंद्र में एक जिन, एक स्तूप, अथवा कोई पवित्र प्रतीक उत्कीर्ण होता था, और जिन्हें श्रावकों ने आस्था के चिरस्थायी कर्म के रूप में स्थापित किया। कंकाली टीले से दर्जनों ऐसी पट्टिकाएँ बची हुई हैं, जिनमें लगभग १५ ईस्वी का प्रिय पार्श्वनाथ आयागपट भी सम्मिलित है। एक विशेष रूप से हृदयस्पर्शी उदाहरण, जिसे कभी-कभी वासु शिलापट कहा जाता है, यह अभिलेखित करता है कि वासु नामक एक स्त्री — अभिलेख के अपने ही विवरण के अनुसार एक गणिका — ने अर्हत का एक मंदिर, श्रद्धा का एक कक्ष, एक जलाशय, और यह पत्थर स्वयं, सब कुछ एक ही श्रद्धा-कर्म में निर्मित करवाया। लगभग दो हज़ार वर्ष बाद भी, उसका नाम आज भी पठनीय है, आज भी उसे पढ़ने वाले हर व्यक्ति द्वारा सम्मानित।

५.५ पत्थर आज कहाँ विश्राम कर रहे हैं

शताब्दी के अंत तक, कंकाली टीले से लगभग आठ सौ मूर्तियाँ, स्तंभ, आयागपट और द्वार-खंड निकल चुके थे — जितने किसी एक स्थानीय संग्रह में समा पाना संभव नहीं था। अधिकांश उत्तर की ओर लखनऊ गए, जो आज उत्तर प्रदेश राज्य संग्रहालय है, और आज भी विश्व में कंकाली टीला सामग्री का सबसे बड़ा भंडार है; एक छोटा भाग अपने मूल स्थान के निकट मथुरा संग्रहालय में ही रह गया। इन अधिक आनंददायक अवशेषों में सरस्वती की एक शीशरहित मूर्ति भी है, जिसे उसके अपने अभिलेख के अनुसार १३२ ईस्वी की तिथि दी गई है और जो एक जैन धातु-शिल्पी द्वारा समर्पित की गई थी — यह एक छोटा सा स्मरण है कि यह श्रद्धामय संसार अपने चतुर्दिक व्यापक संस्कृति के साथ कितनी समृद्धि से गुँथा हुआ था।

५.६ कंकाली टीला क्यों महत्वपूर्ण है

जो लोहानीपुर ने इस इतिहास को एक अकेली मूर्ति में दिया, कंकाली टीला वह सैकड़ों की संख्या में देता है: नामित दाता, नामित आचार्य, नामित परंपराएँ, कुषाणकालीन भारत के हृदय में खुले रूप में कार्यरत एक संपूर्ण श्रद्धामय नगर, जिसका अपना समुदाय अपने केंद्रीय मंदिर को स्मृति से भी परे प्राचीन मानता था। अगला अध्याय इस ओर मुड़ता है कि ये सैकड़ों अभिलेख हमें उस युग के राजाओं के बारे में, और गणों तथा कुलों — उस जीवंत मुनि-वंशवृक्ष — के बारे में क्या बता सकते हैं, जिसने इस पूरे समुदाय को एक साथ बाँधे रखा।

अध्याय छह — कुषाण दानपत्र-शिलालेख और लखनऊ संग्रहालय संग्रह

६.१ वर्ष सहित अंकित एक भेंट

कंकाली टीले से प्राप्त लगभग हर महत्वपूर्ण टुकड़ा अपना एक छोटा अभिलेख साथ रखता है, जो यह बताता है कि उसे किसने और कब दान किया — और यह "कब" इतिहासकारों के लिए आज भी एक अनमोल उपहार है। कुषाण दाता अपने दान को शासनरत सम्राट के राज्यकाल-वर्ष के अनुसार तिथियुक्त करते थे, और इस प्रकार दो पूरी शताब्दियों में श्रद्धा का लगभग वर्ष-दर-वर्ष लेखा-जोखा पीछे छोड़ गए — कनिष्क का नामोल्लेख करते हुए, जिनका अपना संवत् उस युग का मानक बन गया; हुविष्क, जिनके अधीन मथुरा का जैन दान अपने शिखर पर पहुँचता प्रतीत होता है; अल्पकाल तक शासन करने वाले वासिष्क; और वासुदेव, जिनके त्रेनवेवें वर्ष में — लगभग १७१ ईस्वी में — कम से कम एक जैन समर्पण तिथियुक्त है। इनमें से कोई भी सम्राट स्वयं जैन नहीं था, किंतु उनका संवत् इस इतिहास को एक अमूल्य वस्तु प्रदान करता है: एक सटीक, सत्यापन-योग्य कालरेखा, जिसके सापेक्ष श्रद्धा के सैकड़ों व्यक्तिगत कर्मों को वास्तविक विश्वास के साथ स्थापित किया जा सकता है।

६.२ एक भेंट का रूप

एक विशिष्ट कंकाली टीला अभिलेख लगभग वैसे ही पढ़ा जाता है, जैसे दो हज़ार वर्ष बाद भी पठनीय कोई समर्पण-पट्टिका। यह दाता का नाम बताता है — बहुत बार कोई श्रावक, और चौंकाने वाली बात यह कि अक्सर कोई स्त्री, कभी-कभी अपने ही व्यवसाय से पहचानी गई, जैसे गणिका वासु। यह उपहार का नाम बताता है: एक प्रतिमा, एक आयागपट, एक जंगला, एक द्वार, एक जलाशय। यह उस आचार्य अथवा मुनि-परंपरा का नाम बताता है, जिसके सम्मान में यह उपहार दिया गया। और यह, अधिक विस्तृत उदाहरणों में, इस कर्म के पुण्य को समस्त प्राणियों के कल्याण हेतु समर्पित करते हुए समाप्त होता है। इन अभिलेखों में जिस बात का उल्लेख विरले ही मिलता है, वह है कोई राजा। यह, अधिकांशतः, किसी

राजदरबारी इतिवृत्त का नहीं, बल्कि एक सामान्य श्रद्धालु-समाज का अभिलेख है, जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी स्वेच्छा से अपना योगदान देता रहा।

६.३ परिवार की भाँति संगठित एक आस्था

इन अभिलेखों में नामित आचार्य अपनी सावधानीपूर्वक निर्धारित उपाधियाँ धारण करते हैं — गण, कुल, शाखा, और, कुछ दुर्लभ मामलों में, संभोग: अर्थात संघ, परिवार, शाखा, और भोजन-सहभागिता — एक चतुर्विध संरचना, जिसे मथुरा सामग्री पर किए गए एक प्रारंभिक अध्ययन ने "केवल जैनों से संबद्ध एक विशेषता" कहा था। यह एक ऐसी संरचना है, जिसे बाद के, निर्विवाद दिगंबर इतिहास का कोई भी विद्यार्थी तुरंत पहचान लेगा — स्वयं दिगंबर मूल संघ आगे चलकर अपने ही नामित गणों में संगठित हुआ, जिनमें बालात्कार गण भी सम्मिलित है, जो आठवीं शताब्दी से हुंच में आसीन रहा और तेरहवीं शताब्दी तक उत्तर भारत के अभिलेखों में पहचाना जा सकता है। कोई पत्थर यह सिद्ध नहीं करता कि मथुरा के किसी गण से सीधे किसी बाद के दिगंबर गण तक कोई अखंड शृंखला चलती है; किंतु मुनि-परिवार को नाम देने और संगठित करने की वही स्नेहपूर्ण आदत दोनों युगों में दिखाई देती है, तेरह शताब्दियों के अंतराल के बावजूद। जहाँ आधुनिक विद्वानों को किसी घिसे हुए अभिलेख से मेल खाने के लिए किसी नाम की आवश्यकता पड़ी है, वहाँ उन्होंने कभी-कभी श्वेतांबर कल्पसूत्र की अपनी परंपरा-सूचियों का सहारा लिया है — किंतु यहाँ इसका प्रयोग केवल नामों के एक शब्दकोश के रूप में किया गया है, जैसे कोई इतिहासकार किसी सूची से परामर्श ले सकता है, कभी भी स्वयं आस्था के साक्षी के रूप में नहीं; पत्थर और उनकी अधिकांशतः नग्न मूर्तियाँ ही सर्वत्र प्राथमिक प्रमाण बनी रहती हैं।

६.४ क्यूरेटर जो उत्खननकर्ता भी था

जिस संस्था ने आगे चलकर इस ख़ज़ाने को अपने में सँजोया, उसकी अपनी अलग कहानी है। जो आज लखनऊ का राज्य संग्रहालय है, वह १८६३ में कर्नल सॉन्डर्स एलेक्सियस एबट के अपने निजी संग्रह से आरंभ हुआ, १८८३ में प्रांतीय संग्रहालय बना, और १८८५ में इसने अपने प्रथम क्यूरेटर के रूप में और किसी को नहीं, बल्कि अलोइस एंटन फ्यूहरर को ही नियुक्त किया — वही व्यक्ति, जो पाँच वर्ष बाद कंकाली टीले की खुदाई करके देवनिर्मित स्तूप को प्रकाश में लाएँगे। फ्यूहरर की यह दोहरी भूमिका ही — लखनऊ में क्यूरेटर और मथुरा में उत्खननकर्ता — थी, जिसने लगभग समूची खोज को उत्तर की ओर उनके अपने संग्रहालय तक पहुँचा दिया। १९०९ में एक समर्पित पुरातत्व अनुभाग जुड़ा, संस्था ने १९५० में अपना वर्तमान नाम धारण किया, और १९६३ में यह बनारसीबाग़ में अपने विशेष रूप से निर्मित भवन में स्थानांतरित हुई, जिसका उद्घाटन प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने किया।

६.५ लखनऊ संग्रह का महत्व क्यों है

मिलकर, ये तिथियुक्त अभिलेख और इनके साथ चली आ रही गण-कुल-शाखा संरचना, कंकाली टीले को प्राचीन शिल्प के एक भव्य ढेर से बदलकर एक जीवंत अभिलेखागार के निकट कुछ बना देते हैं: कुषाणकालीन भारत के हृदय में एक विशाल, स्वयं-संगठित, मूर्ति-प्रेमी जैन समुदाय के दो शताब्दियों के जीवन का अभिलेख — जिसका प्रतिनिधित्व, जैसा अगला अध्याय दिखाएगा, अधिकांशतः उसी निर्वस्त्र जिन द्वारा किया जाता है, जिसका अनुसरण यह इतिहास लोहानीपुर से करता आया है। यह ख़ज़ाना आज भी बिखर कर हवा में उड़ जाने के बजाय, इतनी बड़ी मात्रा में एक ही संग्रहालय में साथ खड़ा है, यह एक उत्खननकर्ता के दोहरे करियर का ऋणी है — इतिहास की एक ऐसी संयोगिक घटना, जिसके लिए यह इतिवृत्त आभारी है।

अध्याय सात — मथुरा शिल्प में दिगंबर नग्नता: प्रमाण-विवेचन

७.१ जिन को दिखाने का एक ढंग

आज लखनऊ अथवा मथुरा की जैन दीर्घाओं में चलिए, तो यह प्रतिमान तुरंत स्पष्ट हो जाता है: एक के बाद एक मंजूषा में कुषाणकालीन तीर्थंकर, लगभग हर एक कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ा, लगभग हर एक पूर्णतः निर्वस्त्र — न कमरबंद, न कोई आभूषण, वही परंपरा, जिससे इस इतिहास का प्रथम परिचय शताब्दियों पहले लोहानीपुर में हुआ था। मथुरा में यह कोई क्षणिक फ़ैशन नहीं था। जब तक कुषाणकालीन समुदाय यहाँ प्रतिमाएँ समर्पित करता रहा, बचे हुए अभिलेखों के अनुसार,

यही एकमात्र ढंग था, जिससे जिन को दिखाया जाता था।

७.२ बाद में हुआ पृथक्करण

श्वेतांबर परंपरा दिगंबर समुदाय से अपने पृथक होने की तिथि ८३ ईस्वी जितनी प्रारंभिक मानती है, फिर भी मथुरा का अपना समुदाय — हर विवरण के अनुसार, यहाँ तक कि श्वेतांबर इतिहास के प्रति सहानुभूति रखने वाले विवरणों के अनुसार भी — उस तिथि के बाद अगली दो शताब्दियों तक निर्वस्त्र तीर्थंकर-मूर्तियों का निर्माण करवाता रहा, ठीक पिछले अध्याय में जाँचे गए कुषाण सम्राटों के पूरे काल में। सबसे उदार और सबसे सुदृढ़ ढंग से समर्थित वाचन, जिस पर अधिकांश आधुनिक विद्वत्ता स्थिर हुई है, यह है कि इन शताब्दियों में नग्नता बस संपूर्ण जैन समुदाय की — दिगंबर और श्वेतांबर, दोनों की — साझा, अविभाजित परंपरा थी, क्योंकि वस्त्र का दृश्य चिह्न उस समय तक विवाद का विषय बना ही नहीं था। इन आरंभिक शताब्दियों में दोनों समुदायों को जो कुछ भी अलग करता था, वह अभी शिल्पकार की छेनी तक नहीं पहुँचा था।

७.३ वस्त्रधारी जिन पहली बार कब प्रकट होता है

पहली विश्वासपूर्वक तिथियुक्त वस्त्रधारी तीर्थंकर-मूर्तियाँ गुजरात के अकोटा से प्राप्त होती हैं, जिन्हें सामान्यतः पाँचवीं शताब्दी के उत्तरार्ध अथवा छठी शताब्दी ईस्वी में रखा जाता है, वल्लभीपुर की संबंधित कांस्य-मूर्तियों के साथ — मथुरा की अंतिम तिथियुक्त नग्न मूर्तियों के पूरे चार-पाँच शताब्दी बाद। यह उपयुक्त ही है कि वल्लभी में श्वेतांबर परंपरा अपनी अंतिम शास्त्र-परिषद को रखती है — वह सभा, जिसने श्वेतांबर आगम को लगभग उसके वर्तमान स्वरूप में स्थिर किया। आठवीं शताब्दी से आगे, वस्त्रधारी चित्रण स्थिर श्वेतांबर मानदंड बन गया, जिसे बाद में साझा मंदिर-स्थलों को लेकर हुए विवादों ने और भी तीव्र कर दिया।

७.४ एक हज़ार वर्ष का पत्थर वास्तव में क्या दिखाता है

क्रम से जोड़े जाने पर, यह प्रमाण इस इतिहास को उस प्रश्न का एक स्पष्ट उत्तर देता है, जो इसके लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है: जिन-मूर्ति-कला के प्रथम एक हज़ार वर्षों में — लोहानीपुर, कलिंग, संपूर्ण कुषाणकालीन मथुरा, और गुप्तकाल तक — जो भी तीर्थंकर-मूर्ति विश्वासपूर्वक तिथियुक्त होकर आज तक बची है, वह निर्वस्त्र दिखाई गई है। वस्त्रधारी मूर्ति अकोटा तक प्रकट नहीं होती, जो आधी सहस्राब्दी और उससे भी अधिक बाद की बात है। यह इतिहास यह दावा नहीं करता कि आरंभिक समुदाय स्वयं को पूर्णतः आधुनिक अर्थ में "दिगंबर" कहता था — वह अपने-आप में एक प्रकार की अतिशयोक्ति होगी। यह जो दावा करता है, हर बची हुई तिथियुक्त मूर्ति के बल पर, वह यह है कि दिगंबर जिन किसी पूर्ववर्ती, भिन्न मानदंड से टूटकर निकला कोई बाद का दिगंबर रूपांतर नहीं है। वह श्रद्धालुओं द्वारा अपने तीर्थंकरों को दिखाने का मूल ढंग है, इतना ही, और वस्त्रधारी मूर्ति वह है, जो बाद में आई।

७.५ दर्ज करने योग्य एक सावधानी

निष्पक्षता के लिए यह भी दर्ज करना उचित है कि कुछ विद्वान — जिनमें सोन्या क्विंटनिला भी शामिल हैं — यह मान लेने में सावधानी बरतने का आग्रह करते हैं कि आरंभिक जैन उपासना सीधे-सीधे मूर्ति-केंद्रित ही थी, बजाय इसके कि इसमें प्रतीक- और अवशेष-आधारित श्रद्धा का कोई लंबा पूर्ववर्ती चरण भी सम्मिलित रहा हो। यदि यह सावधानी सही है, तो मथुरा की नग्न-मूर्ति परंपरा स्वयं भी लोहानीपुर तक जाने वाली किसी अखंड शृंखला के बजाय एक बाद का विकास हो सकती है। इस इतिहास ने, समग्र रूप से, बहुमत के मत का अनुसरण किया है — किंतु एक अच्छा इतिहास स्पष्ट रूप से यह भी कहता है कि अल्पमत का मत भी कहाँ कुछ देने योग्य है।

७.६ यह विवेचन दिगंबर इतिहास को क्या देता है

दिगंबर परंपरा के भीतर से लिखे गए इस इतिहास के लिए, इस अध्याय का प्रमाण एक मौन प्रमाणीकरण है, उतनी ही स्पष्टता से कहा गया जितनी पत्थर अनुमति देते हैं: निर्वस्त्र मूर्ति — यह दृश्य दावा कि एक पूर्ण मुक्त आत्मा को कुछ भी नहीं चाहिए, वस्त्र भी नहीं — किसी संप्रदायगत पसंद को उचित ठहराने के लिए सजाया गया कोई बाद का आविष्कार नहीं है। यह वही रूप है, जो प्रमाण सदा से, जब से भी तिथियुक्त जिन-मूर्तियाँ अस्तित्व में हैं, तब से निरंतर दिखाते आए हैं। आगे के अध्याय गुप्तकाल की ओर बढ़ते हैं, जहाँ यही परंपरा जारी रहती है, इससे पहले कि यह इतिहास दक्षिण की ओर कर्नाटक

और दक्कन की ओर मुड़े, जहाँ यह एक दिन अपनी सबसे भव्य अभिव्यक्ति पाएगी — किसी ग्रेनाइट पहाड़ी में साठ फुट ऊँची तराशी गई।

भाग चार

गुप्त एवं उत्तर-गुप्त सुदृढ़ीकरण

चौथी से सातवीं शताब्दी ईस्वी

अध्याय आठ — गुप्तकालीन जैन मूर्तियाँ और शिलालेख

८.१ वह राजा, जिसे आधिकारिक इतिहास भूल गया

विदिशा के निकट, दुर्जनपुर के पास, तीन विशालकाय जैन तीर्थंकर-मूर्तियाँ मिलीं, जिन पर एक ऐसा अभिलेख है, जो उनके संरक्षक का नाम बताता है: महाराजाधिराज रामगुप्त। यह राजकीय श्रद्धा का एक सीधा-सादा प्रमाण होना चाहिए था। इसके बजाय यह गुप्त इतिहास की महान पहेलियों में से एक के केंद्र में जा बैठता है, क्योंकि अन्य अनेक गुप्त स्मारकों पर उत्कीर्ण आधिकारिक गुप्त वंशावली में राजा रामगुप्त का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। यह नाम इसके बजाय देवीचंद्रगुप्तम् नामक संस्कृत नाटक में बचा हुआ है, जो यह कथा कहता है कि किस प्रकार महान समुद्रगुप्त के ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त ने घेराबंदी के दबाव में अपनी ही रानी ध्रुवदेवी को एक शक शत्रु को सौंप देने पर सहमति दे दी थी — और किस प्रकार उनके छोटे भाई, भावी चंद्रगुप्त द्वितीय, ने वेश बदलकर शत्रु शिविर में प्रवेश किया, शक राजा का वध किया, अपने ही भाई को अपदस्थ किया, और स्वयं ध्रुवदेवी से विवाह कर लिया।

८.२ मूर्तियाँ क्या पुष्ट करती हैं

"रामगुत" नाम अंकित ताम्र सिक्के एरण और विदिशा, दोनों स्थानों से प्राप्त हुए हैं, और दुर्जनपुर अभिलेख स्वतंत्र रूप से उसी महाराजाधिराज को तीन तीर्थंकर-मूर्तियों के संरक्षक के रूप में नामित करते हैं। शिलालेख-विशेषज्ञ जी.एस. गई ने, इस

लिपि की समुद्रगुप्त के अपने एरण अभिलेख से घनिष्ठ समानता पढ़ते हुए, दुर्जनपुर सामग्री को चौथी शताब्दी ईस्वी की तिथि दी — जो एक वास्तविक रामगुप्त के समुद्रगुप्त और चंद्रगुप्त द्वितीय के बीच शासन करने के अनुरूप ठीक बैठती है। डी.सी. सरकार ने अधिक सावधानी बरतने का सुझाव दिया, यह मानते हुए कि यह रामगुप्त एक अलग, बाद का, स्थानीय शासक भी हो सकता है। स्वयं चंद्रगुप्त द्वितीय के अपने अभिलेखों में भी एक विचित्र सी छोटी बात है, जिसे कुछ इतिहासकार इस पूरे प्रकरण की ओर एक मौन संकेत मानते हैं: वे स्वयं को अपने पिता द्वारा सिंहासन के लिए "स्वीकार किया गया" बताते हैं — गुप्त उत्तराधिकार अभिलेखों के लिए एक असामान्य वाक्यांश।

८.३ एक प्रारंभिक शैली, अभी अपना रूप ढूँढ़ती हुई

इस रहस्य को एक ओर रखें, तो दुर्जनपुर की मूर्तियाँ अपने-आप में सुंदर हैं — इनकी प्रभावली पाँचवीं शताब्दी की पूर्ण विकसित गुप्त शैली की तुलना में अधिक सरल है, इनकी पीठिकाओं पर बाद की परंपरा द्वारा प्रत्येक तीर्थंकर को दिए जाने वाले पृथक चिह्न के बजाय एक सादा धर्मचक्र अंकित है। दोनों विवरण एक ही दिशा की ओर संकेत करते हैं: गुप्तकालीन जैन शिल्प का एक प्रारंभिक, संक्रमणकालीन क्षण, जो मथुरा की अपनी कुषाण जड़ों के निकट है, किंतु पहले से ही कुछ नए की ओर बढ़ रहा है।

८.४ कहौम का एक स्तंभ

गुप्तकालीन जैन प्रमाण का एक टुकड़ा ऐसा भी है, जिसमें कोई रहस्य नहीं है। उत्तर प्रदेश के कहौम में एक पाषाण-स्तंभ पर पार्श्वनाथ की एक उभरी हुई मूर्ति है, और एक अभिलेख यह अभिलेखित करता है कि इसे गुप्त सम्राट स्कंदगुप्त के शासनकाल में एक निजी व्यक्ति ने खड़ा करवाया, ठीक-ठीक ४६१ ईस्वी की तिथि के साथ — दुर्जनपुर के एक शताब्दी बाद, अध्याय छह से इस इतिहास द्वारा अनुसरित उसी प्रतिमान की एक छोटी, शांत प्रतिध्वनि: राजा नहीं, बल्कि सामान्य श्रावक, किसी तीर्थंकर की मूर्ति का व्यय उठाते हुए और यह ठीक-ठीक दर्ज करते हुए कि उन्होंने ऐसा कब किया।

८.५ मथुरा, अब भी देती हुई

मथुरा की अपनी श्रद्धा कुषाण साम्राज्य के साथ समाप्त नहीं हुई। वहाँ टेराकोटा और पत्थर में जैन शिल्प पाँचवीं शताब्दी तक जारी रहा, पहले से कम संख्या में, किंतु पहचानने योग्य रूप से पहले आए हर तत्व के साथ निरंतरता बनाए रखते हुए, यहाँ तक कि गुप्त संसार भर में हिंदू, बौद्ध और जैन कला साझा शैली और तकनीक में परस्पर निकट आती गईं।

८.६ गुप्त अध्याय हमें क्या दे जाता है

गुप्तकाल नग्न तीर्थंकर के अखंड सूत्र को और दो-तीन शताब्दियों तक आगे ले जाता है — लोहानीपुर, कलिंग, मथुरा, और अब दुर्जनपुर तथा कहौम — और यह इस इतिहास को आगे ले चलने योग्य एक छोटा सा पाठ भी दे जाता है: सादे पत्थर पर उत्कीर्ण किसी राजा का अपना नाम भी सदैव अकेले किसी प्रश्न का समाधान नहीं करता। दुर्जनपुर की मूर्तियाँ रामगुप्त की पहेली को सुलझाती उतनी नहीं, जितना उसे और गहरा कर देती हैं — यह स्मरण कराते हुए कि भारत के प्रारंभिक राजनीतिक इतिहास का कितना बड़ा भाग हमें केवल इसलिए मिल पाया है, क्योंकि एक श्रद्धालु समुदाय अपने स्वयं के स्मारक बनाता और उन पर अभिलेख उत्कीर्ण कराता रहा।

अध्याय नौ — वाकाटककालीन एवं प्रारंभिक दक्कनी दिगंबर स्थापनाएँ

९.१ वाकाटक भूमि से गुज़रता एक धीमा सूत्र

वाकाटक राजवंश ने इन्हीं गुप्त शताब्दियों में मध्य भारत और उत्तरी दक्कन के एक विस्तृत भूभाग पर शासन किया, जो एक गुप्त राजकुमारी से विवाह-संबंध द्वारा दृढ़ हुआ था। यह इतिहास इसके साथ मेल खाता कोई सुदृढ़ वाकाटककालीन दिगंबर संरक्षण भी बताना पसंद करता, किंतु ईमानदारी माँग करती है कि यह स्पष्ट कहा जाए कि यह सूत्र कहाँ पतला पड़ जाता है। रामटेक, जो नागरधन के एक वास्तविक वाकाटककालीन बस्ती के निकट है, आज एक उत्कृष्ट दिगंबर संस्थान का घर है — तेरह फुट ऊँची मूर्तिवाला शांतिनाथ मंदिर — किंतु इस मंदिर का अपना इतिहास ग्यारहवीं अथवा बारहवीं शताब्दी में आरंभ

होता है, और इसकी प्रमुख वृद्धि इससे भी बाद में, नागपुर के भोंसले शासकों के अधीन हुई। यह इतिवृत्त उस चमक को उधार लेने के बजाय, जहाँ प्रमाण सुदृढ़ है, वहीं उसका अनुसरण करना अधिक उचित समझता है — एक ऐसी चमक, जिसका दावा स्वयं इस स्थल का इतिहास भी नहीं करता।

९.२ दो अध्यायों को जोड़ने वाला एक विवाह

यह अधिक सुदृढ़ प्रमाण आज के कर्नाटक में स्थित बनवासी के प्रारंभिक कदंब राजवंश के पास है। मध्य-चौथी शताब्दी में मयूरशर्मा द्वारा स्थापित — जिन्हें एक कोमल बाद की किंवदंती किसी जैन मुनि के अपने ही परिवार से जोड़ती है, एक ऐसी कथा, जिसे यह इतिहास अभिलेख के बजाय किंवदंती के रूप में सस्नेह धारण करता है — कदंब वंश ने कक्कुस्थवर्मा के अधीन वास्तविक क्षेत्रीय सत्ता प्राप्त की, जिन्होंने पाँचवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में शासन किया और अपनी एक पुत्री का विवाह गुप्त शाही परिवार में किया, और अधिकांश विवरणों के अनुसार, दूसरी पुत्री का विवाह स्वयं वाकाटक राजघराने में, राजकुमार नरेंद्रसेन से किया — जो चुपचाप इस अध्याय की कथा को इससे पहले के दोनों राजवंशों से जोड़ देता है।

९.३ हलसी में कक्कुस्थवर्मा की भेंट

यही कक्कुस्थवर्मा इस इतिहास को अपना पहला ठोस कदंबकालीन अभिलेख देते हैं। हलसी — प्राचीन पलासिका — में उनका भूमि-अनुदान जिनेंद्र, जिनों के स्वामी, को अभिवादन के साथ आरंभ होता है, और यह अनुदान तथा, संभवतः, वहाँ के एक जैन मंदिर के प्रति उनका अपना संरक्षण, दोनों को अभिलेखित करता है: पहले कदंब राजा, जिनकी जैन धर्म के प्रति व्यक्तिगत श्रद्धा उनके अपने ही शब्दों में पुष्ट होती है।

९.४ मृगेशवर्मा का मंदिर, और साथ-साथ तीन परंपराएँ

कक्कुस्थवर्मा के उत्तराधिकारी, मृगेशवर्मा, ने इस इतिहास को पाँचवीं शताब्दी का अपना सबसे समृद्ध कदंबकालीन अभिलेख दिया। अपने तीसरे वर्ष में उन्होंने बृहत् पारलूर में अर्हत-पूजा के लिए भूमि अनुदान दिया; अपने आठवें वर्ष में, लगभग ४६३ ईस्वी में, उन्होंने स्वयं पलासिका में एक जिनालय बनवाया और तीन नामित परंपराओं — यापनीय, निर्ग्रंथ, और कूर्चक — के तपस्वियों को भूमि अनुदान दी। यापनीय परंपरा का विशेष उल्लेख उपयुक्त है: एक वास्तविक तृतीय परंपरा, जो अपने तपस्वी नग्नत्व में दिगंबर आचरण के निकट थी, फिर भी कुछ ऐसे ग्रंथों का सम्मान करती थी, जो अधिकतर श्वेतांबर प्रयोग से जुड़े माने जाते हैं — यह प्रमाण कि आरंभिक मध्यकालीन जैन जगत में बाद की शताब्दियों के पूर्णतः स्थिर द्वि-संप्रदाय चित्र से कहीं अधिक विविधता के लिए स्थान था। इसी राजा का एक अलग अनुदान दो और संघों को एक साथ शाही भूमि प्राप्त करते हुए नामित करता है — एक श्वेतपट, अर्थात श्वेतवस्त्रधारी, संघ, और एक निर्ग्रंथ संघ — जो दर्शाता है कि जैन जीवन जीने के इन दो ढंगों के लिए ये दो नाम पाँचवीं शताब्दी के मध्य तक कर्नाटक में पहले से ही समझे जाते थे, और दरबार में पहले से ही समान रूप से सम्मानित थे।

९.५ रविवर्मा इसे आगे ले जाते हैं

मृगेशवर्मा के उत्तराधिकारी रविवर्मा के काल में, स्वयं राजा के भाई भानुवर्मा ने जिन की नियमित पूजा के व्यय हेतु पलासिका में और पंद्रह निवर्तन भूमि अनुदान दी — एक छोटी भेंट, किंतु महत्वपूर्ण भी: अब तक, इस कदंब केंद्र में जैन संरक्षण इतना सुरक्षित हो चुका था कि स्वयं राजा के बजाय राजपरिवार का कोई सदस्य भी इसकी नित्य व्यवस्था देख सकता था।

९.६ कर्नाटक का कदंब अध्याय इस कथा को क्या देता है

कक्कुस्थवर्मा का जिनेंद्र को अभिवादन और मृगेशवर्मा का पलासिका में जिनालय, इस इतिहास को निर्णायक रूप से कर्नाटक की ओर, गंग राजवंश के उस संरक्षण से पूरे दो-तीन शताब्दी पहले ले जाते हैं, जो एक दिन श्रवणबेलगोला की चंद्रगिरि पहाड़ी को, और उससे भी बाद में गोम्मटेश्वर महाप्रस्तर मूर्ति को खड़ा करेगा। ये कर्नाटक की दिगंबर कथा का वास्तविक आरंभ नहीं हैं — चंद्रगुप्त-भद्रबाहु परंपरा अपनी शर्तों पर इससे भी पीछे तक पहुँचती है — किंतु ये इसका पहला अध्याय हैं, जो केवल स्मृति में नहीं, बल्कि तिथियुक्त राजकीय अनुदान-पत्रों में कहा गया है।

भाग पाँच

दक्कन और कर्नाटक का उत्कर्ष

छठी से बारहवीं शताब्दी ईस्वी

अध्याय दस — बादामी चालुक्य जैन गुफा और शिलालेख

१०.१ एक ही चट्टान पर चार गुफाएँ

बादामी — प्राचीन वातापी — पुलकेशी प्रथम के अधीन चालुक्य राजधानी बना, जिन्होंने इसका पहाड़ी दुर्ग बनवाया और ५४३ ईस्वी की तिथि वाला अपना एक अभिलेख छोड़ा। नगर के ऊपर मुलायम लाल चट्टान में, उनके उत्तराधिकारियों ने चार महान गुफा-मंदिर तराशे: एक शैव गुफा, दो वैष्णव गुफाएँ, और एक जैन गुफा, गुफा चार, जहाँ आज अपनी पड़ोसी वैष्णव गुफा से एक सीढ़ी के मार्ग से पहुँचा जाता है। उस पड़ोसी गुफा में एक ठीक-ठीक तिथियुक्त अभिलेख है — ३१ अक्टूबर ५७८ ईस्वी — जो राजा कीर्तिवर्मा प्रथम के अपने भाई मंगलेश द्वारा एक "अद्भुत शिल्प-कौशल" वाला विष्णु-मंदिर बनवाए जाने को अभिलेखित करता है — जो पूरी पहाड़ी के लिए एक उत्कृष्ट संदर्भ-बिंदु है।

१०.२ जैन गुफा के भीतर

गुफा चार अपनी पड़ोसी गुफाओं जैसी ही सुंदर योजना का अनुसरण करती है — बरामदा, सभाकक्ष, अंतःकक्ष, गर्भगृह — और इसके हृदय में महावीर विराजमान हैं, सिंहासन पर पर्यंकासन में बैठे हुए। दीवारों के सहारे तीर्थंकरों की पंक्तियों से घिरी जीवन-आकार की ऋषभनाथ मूर्ति खड़ी है, अपने सर्प-फणों की छत्रछाया में पार्श्वनाथ, और, ऐसी लताओं में लिपटे हुए, जो इतने लंबे ध्यान की गवाही देती हैं कि उनके चतुर्दिक स्वयं वन ही उग आया — बाहुबली — एक ऐसी मूर्ति, जिससे इस इतिहास की भेंट श्रवणबेलगोला में कहीं अधिक विशाल रूप में फिर होगी। महावीर के निकट जक्कवे नाम से स्मरण की जाने वाली एक जैन आर्यिका खड़ी हैं, जिनकी उपस्थिति को उनकी अपनी सल्लेखना के एक कोमल स्मारक के रूप में पढ़ा जाता है।

१०.३ एक गुफा, जो केवल शैली से बोलती है

अपनी वैष्णव पड़ोसी गुफा के विपरीत, गुफा चार ने अपना कोई संरक्षक और वर्ष नामित करने वाला स्थापना-अभिलेख नहीं छोड़ा है। इसकी सातवीं शताब्दी के आरंभ की तिथि इसके बजाय पूरी पहाड़ी की शैली की सावधानीपूर्वक तुलना पर टिकी है — एक उचित और समय-परीक्षित पद्धति, भले ही इसमें वह निश्चितता न हो, जो कोई समर्पण-अभिलेख देता।

१०.४ ऐहोल में रविकीर्ति का मंदिर

जो गुफा चार अलिखित छोड़ जाती है, उसे निकटवर्ती एक स्मारक पूरे स्वर में पूरा करता है। ऐहोल में, मेगुती मंदिर पर चालुक्य सम्राट पुलकेशी द्वितीय के दरबार के जैन विद्वान-कवि रविकीर्ति का एक अभिलेख है, जो ठीक-ठीक ६३४-६३५ ईस्वी की तिथि रखता है। यह जिनेंद्र को अभिवादन के साथ आरंभ होता है, दक्कन भर में पुलकेशी द्वितीय के अभियानों का उत्सव मनाने की ओर मुड़ता है, और रविकीर्ति के अपने ही शब्दों के साथ समाप्त होता है: कि उन्होंने "जिनेंद्र का यह पाषाण-भवन" बनवाया। मिलकर, ऐहोल की तिथियुक्त वाणी और बादामी की अतिथियुक्त किंतु सजातीय गुफा, सातवीं शताब्दी के आरंभिक चालुक्य कर्नाटक को एक ऐसे स्थान के रूप में दिखाती हैं, जहाँ जैन विद्वत्ता, मंदिर-निर्माण और राजकीय अनुग्रह सहजता से एक साथ चलते थे।

१०.५ बादामी और ऐहोल इस कथा को क्या देते हैं

गुफा चार का नग्न, लता-लिपटा बाहुबली कोई विचित्र क्षेत्रीय रूपांतर नहीं है — यह विषय-वस्तु और भावना, दोनों में, उसी मूर्ति के तीन शताब्दी बाद श्रवणबेलगोला में होने वाले कहीं अधिक भव्य प्राकट्य का सीधा पूर्वगामी है, जहाँ एक संपूर्ण ग्रेनाइट पहाड़ी उनकी प्रतिकृति के लिए समर्पित कर दी जाएगी। वह स्मारक, और इसके पीछे की गंग राजवंश की श्रद्धा, वहीं है, जहाँ यह इतिहास अब मुड़ता है।

अध्याय ग्यारह — गंग वंश और श्रवणबेलगोला

११.१ कोलार में जन्मा एक राजवंश

पश्चिमी गंग राजवंश ने दक्षिणी कर्नाटक पर छह सौ पचास वर्षों के असाधारण दीर्घकाल तक शासन किया, लगभग ३५० से १००० ईस्वी तक — कुषाण, गुप्त और कदंब राजवंशों को मिलाकर भी इससे अधिक लंबे समय तक। कोंगणिवर्मन माधव ने लगभग ३५० में प्रथम गंग राजधानी कोलार में स्थापित की; हरिवर्मन ने लगभग ३९० में इसे कावेरी तट पर तलकाड में स्थानांतरित किया। पल्लव, फिर चालुक्य, फिर राष्ट्रकूट आधिपत्य के दौर से गुज़रते हुए भी, गंग राजघराना इस दीर्घ काल के लगभग संपूर्ण भाग में दिगंबर आस्था का एक घनिष्ठ और निरंतर मित्र बना रहा।

११.२ मडिकेरी में अविनीत की भेंट

जिन आरंभिक गंग राजाओं की अपनी श्रद्धा किसी तिथियुक्त अभिलेख में बची हुई है, उनमें अविनीत भी हैं, जिन्होंने लगभग ४६९ से ५२९ ईस्वी तक शासन किया और जिन्हें जैन आचार्य विजयकीर्ति के व्यक्तिगत शिष्य के रूप में स्मरण किया जाता है। उनका मडिकेरी ताम्रपत्र, जो ४६६ ईस्वी के अनुरूप है, बदनेगुप्पे गाँव और बारह कंडुग भूमि को स्वयं गंग राजधानी तलवनगर की श्री विजय जिन बसदी को दान किए जाने का अभिलेख देता है। श्रद्धामय स्मृति अविनीत के अपने बचपन की एक अधिक कोमल कथा भी सुनाती है — बाढ़ग्रस्त कावेरी को पार करते हुए एक जिन-मूर्ति को कंधे पर ले जाना — जिसे परंपरा के रूप में सँजोया गया है, जबकि मडिकेरी ताम्रपत्र इस इतिहास के अपने तिथियुक्त प्रमाण के रूप में खड़ा है: एक नामित राजा, एक नामित मंदिर, एक नामित भेंट।

११.३ चंद्रगुप्त बसदी की अपनी आयु

चंद्रगिरि पहाड़ी पर स्थित वह मंदिर, जिसे चंद्रगुप्त बसदी के नाम से स्मरण किया जाता है, प्रायः छठी शताब्दी की संरचना के रूप में वर्णित किया जाता है — एक ऐसी तिथि, जो इसी अध्याय के सुदृढ़ गंग संरक्षण की समयावधि में सहजता से बैठ

जाती है। यह वह क्षण है, जब दो सत्यों में से किसी एक को चुनने के बजाय दोनों को साथ थामे रखना उचित है: यह संभव है कि यह मंदिर स्वयं निर्माण की इसी गंगकालीन लहर तक पीछे जाता हो, भले ही उस पहाड़ी के सबसे प्राचीन अभिलेख, जो वहाँ भद्रबाहु और चंद्रगुप्त की उपस्थिति का वास्तव में नामोल्लेख करते हैं, जैसा अध्याय तीन में पाया गया, सातवीं-आठवीं शताब्दी और उसके बाद के हैं। एक छठी शताब्दी का मंदिर, जो एक कहीं अधिक प्राचीन कथा को धारण करता है और जिसकी पुष्टि एक-दो शताब्दी बाद पत्थर में होती है, कोई विरोधाभास नहीं है — यह बस श्रद्धा और अभिलेख का, जैसा वे प्रायः करते हैं, एक ही यात्रा के थोड़े भिन्न बिंदुओं पर पहुँचना है।

११.४ शिवमार प्रथम, सौ बसदियों के निर्माता

गंग श्रद्धा शिवमार प्रथम के अधीन अपने शिखर तक पहुँचती है, जिन्होंने ६७९ से ७२६ ईस्वी तक शासन किया और जिन्हें एक असाधारण उदार संरक्षक के रूप में स्मरण किया जाता है, जिन्हें सिंहासन पर लगभग पचास वर्षों के दौरान गंग क्षेत्र भर में बसदियाँ खड़ी करने का श्रेय दिया जाता है — वह स्थिर, धैर्यपूर्ण राजकीय अनुग्रह, जिसने कर्नाटक के दिगंबर परिदृश्य को इतनी समृद्धि से उन महान स्मारकों तक बढ़ने दिया, जिनका वर्णन अगला अध्याय करता है।

११.५ कन्नड़ पद्य में एक मुनि का स्मारक-लेख

शिवमार के बाद की शताब्दी से चंद्रगिरि के अभिलेखों में सुंदर नंदिसेन स्मारक-लेख भी खड़ा है, कन्नड़-भाषा की एक कविता, जो लगभग ७०० ईस्वी में रखी गई, एक जैन मुनि की मृत्यु का सम्मान करती हुई और उनके देहावसान को इंद्रधनुष की भाँति, बिजली की समूह-चमक की भाँति तीव्रता से विलीन होते हुए वर्णित करती हुई। प्रारंभिक कन्नड़ साहित्य के विद्वान इसे हल्मिडी और कप्पे अरभट्ट अभिलेखों के साथ, साहित्यिक भाषा के रूप में कन्नड़ के अत्यंत प्रारंभिक पुष्पन में गिनते हैं — श्रवणबेलगोला का अपना दिगंबर समुदाय, आठवीं शताब्दी के आरंभ तक, उस साहित्य के जन्म-बिंदु पर ही खड़ा था, उसके हाशिये पर नहीं।

११.६ गंग श्रद्धा के छह शतक इस कथा को क्या दे जाते हैं

आठवीं शताब्दी के आरंभ तक, श्रवणबेलगोला और उसकी गंग मातृभूमि वह बन चुके थे, जो इस इतिहास को अब तक अन्यत्र कहीं नहीं मिला था: एक दिगंबर परिदृश्य, जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी उन नामित राजाओं द्वारा पोषित हुआ, जिनकी अपनी भेंटें तिथियुक्त पत्थर में अभिलेखित हैं, और जो एक हज़ार वर्ष से भी अधिक पुरानी एक संस्थापक-स्मृति — चंद्रगुप्त और भद्रबाहु के अपने आगमन — के ऊपर टिका हुआ था। यही गहरी, संचित श्रद्धा थी, जिसने श्रवणबेलगोला को दसवीं शताब्दी तक भारतीय इतिहास में दिगंबर संरक्षण के अकेले सबसे भव्य कार्य का स्वाभाविक घर बना दिया: चावुंडराय का महान बाहुबली, जिसकी परीक्षा अगले अध्याय में की जाएगी।

अध्याय बारह — गोम्मटेश्वर बाहुबली महाप्रस्तर मूर्ति

१२.१ एक ही पहाड़ी से तराशी गई मूर्ति

विंध्यगिरि पहाड़ी पर, चंद्रगिरि से एक छोटी झील के पार, ग्रेनाइट के एक अखंड पिंड से तराशी गई एक मूर्ति उठती है — मुकुट से पीठिका तक सत्तावन फुट ऊँची, पूर्ण कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी, नग्न, निरलंकार, शांत ध्यान में झुकी हुई दृष्टि, और उनके स्थिर अंगों पर चढ़ती हुई लताएँ ठीक उसी प्रकार, जैसे दो शताब्दी पहले बादामी की गुफा चार के छोटे बाहुबली पर चढ़ी थीं। यह गोम्मटेश्वर है, और यह प्राचीन विश्व में कहीं भी तराशी गई सबसे ऊँची स्वतंत्र-खड़ी एकाश्म मूर्तियों में गिना जाता है।

१२.२ चावुंडराय, मंत्री और सेनापति

इसके संरक्षक कोई शासनरत राजा नहीं थे, बल्कि एक उल्लेखनीय मंत्री थे, जिन्होंने बारी-बारी से तीन राजाओं की सेवा की: चावुंडराय, जिनका जीवनकाल लगभग ९४० से ९८९ तक रहा, गंग दरबार में एक दुर्जेय सेनापति के रूप में उभरते हुए — समर परशुराम, वीर मार्तंड, रणरंगसिंह, ऐसी उपाधियाँ, जो उन्होंने अपने अभियानों में अर्जित कीं — इससे पहले कि वे मारसिंह

द्वितीय के अधीन, फिर राचमल्ल चतुर्थ के अधीन प्रधानमंत्री बनें, जिनके सिंहासन के अपने दावे को सुरक्षित करने में चावुंडराय ने सहायता की, और अंततः राचमल्ल पंचम के अधीन। पहले एक सैनिक और राजनेता, और उसी साँस में, दिगंबर आस्था के एक श्रद्धावान पुत्र भी।

१२.३ एक मूर्ति और एक शास्त्र, दोनों एक ही नाम धारण किए

चावुंडराय ने लगभग ९८१ ईस्वी में इस महान बाहुबली को खड़ा करवाया, इसके अंतिम स्पर्श एक-दो वर्ष बाद पूर्ण हुए, और उन्होंने अपना नाम स्थायी रूप से इसके चरणों में अंकित करवाया, एक त्रिभाषी अभिलेख में, जो निकट ही तमिल ग्रंथ लिपि में भी दोहराया गया है। इस महाप्रस्तर मूर्ति का अपना नाम, गोम्मटेश्वर, चावुंडराय की अपनी उपाधि "गोम्मट" से आया हुआ स्मरण किया जाता है — वही उपाधि, जिसे उनके अपने आचार्य, नेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्ती, ने गोम्मटसार के नाम में भी ढाल दिया — दिगंबर सिद्धांत का वह महान सारांश, जिसकी रचना उन्होंने इन्हीं वर्षों में, षट्खंडागम की प्राचीन नींव पर की। एक मूर्ति और एक शास्त्र, दोनों एक ही श्रद्धावान मंत्री का नाम धारण किए हुए।

१२.४ इस कार्य में एक माता का योगदान

परंपरा चावुंडराय की अपनी माता, कालाला देवी, को इस महान कार्य को पूर्णता तक पहुँचाने में एक प्रिय स्थान देती है — इस विशाल स्तर पर भी, उसी प्रतिमान का एक और उदाहरण, जिसका अनुसरण यह इतिहास मथुरा से करता आया है: कि दिगंबर श्रद्धा की सबसे भव्य उपलब्धियों का इतना बड़ा भाग, अंततः, बड़े रूप में लिखी गई पारिवारिक श्रद्धा ही थी।

१२.५ महामस्तकाभिषेक

लगभग हर बारह वर्ष में एक बार, श्रवणबेलगोला महामस्तकाभिषेक का आयोजन करता है — वह महान मस्तक-अभिषेक, जब इस विशाल मूर्ति को उसके मुकुट तक पहुँचने वाले एक मचान से दूध, केसर, घी और गन्ने के रस से स्नान कराया जाता है, श्रद्धालुओं की विशाल भीड़ के समक्ष। भारतविद् हाइनरिष ज़िमर ने कभी यह टिप्पणी की थी कि यह स्नेहपूर्ण, बार-बार होने वाला स्नान ही इस मूर्ति को सदा नवीन बनाए रखता है, न कि खुले आकाश में एक हज़ार वर्ष से घिसी हुई। अगला महामस्तकाभिषेक २०३० में निर्धारित है, जो अब लगभग एक सहस्राब्दी पुरानी हो चुकी इस श्रद्धा को आगे बढ़ाएगा।

१२.६ गोम्मटेश्वर इस कथा को क्या देता है

लोहानीपुर से अब तक इस इतिहास द्वारा अनुसरित हर सूत्र यहाँ विंध्यगिरि पहाड़ी पर आकर मिलता है: वह निर्वस्त्र, निरलंकार जिन-देह, जो कुषाणकालीन मथुरा में शताब्दियों तक बहुगुणित होती रही, बादामी की चालुक्य गुफा-भित्ति पर उत्कीर्ण हुई, अब सत्तावन फुट ऊँची खड़ी है और मीलों दूर से दिखाई देती है — यह प्रमाण, अपने सबसे भव्य संभव स्तर पर, कि त्याग को उसकी अंतिम सीमा तक ले जाना छिपाने योग्य कोई वस्तु नहीं थी, बल्कि वह अकेला सबसे भव्य विषय था, जो किसी शिल्पकार की छेनी को कभी दिया जा सकता था।

अध्याय तेरह — राष्ट्रकूट संरक्षण: एलोरा की जैन गुफाएँ

१३.१ पत्थर के एक पर्वत के निकट पाँच गुफाएँ

एलोरा के महान कैलासनाथ मंदिर के उत्तर में — एक संपूर्ण शिव-मंदिर, जो एक ही पहाड़ी से नीचे की ओर तराशा गया, और जो राष्ट्रकूट संरक्षण में आठवीं शताब्दी के मध्य तक पूर्ण हुआ — पाँच और गुफा-उत्खनन खड़े हैं, गुफा ३० से ३४ तक, एलोरा का जैन समूह। गुफा ३३ के निकट कुछ छोटी जिन-मूर्तियाँ सातवीं अथवा आठवीं शताब्दी के आरंभ तक पीछे जाती हैं, संभवतः अपनी पूर्ण बारी की प्रतीक्षा करती हुई जैन उपस्थिति के प्रारंभिक चिह्नों के रूप में खड़ी हुई; बड़ा कार्य, गुफा ३० से ३४ का वास्तविक निर्माण, तब आरंभ हुआ जब स्वयं कैलासनाथ मंदिर पर्याप्त रूप से पूर्ण हो चुका था, और यह राष्ट्रकूट शासन में नौवीं और दसवीं शताब्दी में फैलता गया।

१३.२ मुनियों के बीच पला एक राजा

सबसे प्रिय जैन-संबद्ध राष्ट्रकूट शासक, अमोघवर्ष प्रथम, ने ८१४ से ८७८ तक शासन किया — वे वर्ष, जो एलोरा के मुख्य जैन निर्माण-काल से लगभग ठीक-ठीक मेल खाते हैं। एक जैन आश्रम में पले-बढ़े, उन्हें प्रतिदिन अपने आचार्य, आचार्य जिनसेन, के मठ की ओर अभिवादन से दिन आरंभ करते हुए स्मरण किया जाता है, और अपने दीर्घ शासनकाल के अंतिम दौर में सिंहासन त्यागकर जिनसेन के निरंतर मार्गदर्शन में अपने शेष वर्ष व्यतीत किए। कोई एक अभिलेख भी उन्हें नाम से एलोरा की किसी एक गुफा से नहीं जोड़ता — किंतु दिगंबर मुनि-जीवन के इतने निकट एक राष्ट्रकूट दरबार, जो उसी शताब्दी के साढ़े छह दशकों तक शासन करता रहा, जिसमें जैन गुफाएँ तराशी गईं, वह स्वाभाविक भूमि है, जिससे यह संपूर्ण निर्माण-कार्यक्रम उगा।

१३.३ वीरसेन और जिनसेन की महान टीकाएँ

इन्हीं राष्ट्रकूट दशकों ने दिगंबर विद्वत्ता को उसके कुछ सबसे अनमोल बचे हुए ग्रंथ भी दिए। आचार्य वीरसेन ने, राजा ध्रुव धारावर्ष और गोविंद तृतीय के अधीन कार्य करते हुए, लगभग ७५० से ८२५ के बीच, प्राचीन षट्खंडागम पर विशाल धवला टीका का कार्य आरंभ किया — इतना बड़ा परिश्रम कि वे इसे पूर्ण होते देखने के लिए जीवित न रह सके। जिनसेन, उनके अपने शिष्य और बाद में स्वयं अमोघवर्ष के गुरु, ने अपने आचार्य के देहावसान के बाद जयधवला भाग को पूर्ण किया, और आगे चलकर आदिपुराण की रचना की — ऋषभनाथ के अपने जीवन का उनका महान वर्णन। जिस दरबार ने एलोरा की गुफाओं को खड़ा किया, उसी ने उस युग को उसका सर्वोत्तम सैद्धांतिक साहित्य भी दिया — स्मारक और पांडुलिपि, दोनों उसी एक श्रद्धावान समूह से जन्मे।

१३.४ इंद्र सभा के भीतर

गुफा ३२, इंद्र सभा, इन पाँचों में सबसे भव्य है: एक द्वार, जो एक आँगन में खुलता है, केंद्र में एक एकाश्म मंदिर, जिसके दोनों ओर एक मानस्तंभ और एक उत्कीर्ण हाथी है, और, दो मंज़िलों में फैला हुआ, महावीर को समर्पित एक गर्भगृह, जिसकी दीवारों पर अपने हाथी पर मातंग यक्ष और अपने सिंह पर अंबिका देवी उत्कीर्ण हैं, और जिसकी छत एक असाधारण उत्कीर्ण कमल से सुशोभित है। गुफा के अपने ही अभिलेख में दो श्रद्धावान व्यक्ति, नागवर्मा और सोहिल, नामित हैं — एक बार फिर निजी संरक्षक, उसी आत्मीय प्रतिमान में, जिसका अनुसरण यह इतिहास मथुरा में वासु के आयागपट से करता आया है।

१३.५ छोटा कैलास

गुफा ३०, छोटा कैलास, अपने महान पड़ोसी के प्रति अपना ऋण अपने ही नाम में धारण करती है — एक छोटा, स्वतंत्र-खड़ा मंदिर, जो उसी चट्टान से नीचे की ओर तराशा गया, और जो तब खड़ा हुआ, जब कैलासनाथ मंदिर बनाने वाले शिल्पकार जैन संरक्षकों की ओर मुड़ने के लिए स्वतंत्र हुए। गुफा ३३ के निकट पहले से मौजूद, प्रतीक्षारत जिन-मूर्तियों के साथ पढ़े जाने पर, यह संकेत देता है कि इस स्थल के सबसे आरंभिक दिनों से ही एलोरा में एक जैन समुदाय उपस्थित था, जो धैर्यपूर्वक अपनी बारी आने तक अपना स्थान थामे रहा।

१३.६ एक समुदाय, जो टिका रहा

एलोरा की जैन गुफाएँ अपने मुख्य निर्माण-काल के बाद भी शताब्दियों तक उपासकों का स्वागत करती रहीं, तेरहवीं शताब्दी और उससे आगे तक, इससे पहले कि दक्कन की बाद की सल्तनत शक्तियों के अधीन इस क्षेत्र के बदलते भाग्य ने पंद्रहवीं से सत्रहवीं शताब्दी के बीच इसकी अनेक मूर्तियों को क्षति पहुँचाई — इस इतिहास की उस बड़ी, कठिन कथा का एक भाग, जिसकी ओर यह पुस्तक सल्तनत और मुग़लकाल पर अपने अध्यायों में अधिक पूर्णता से लौटती है।

१३.७ एलोरा इस कथा को क्या देता है

एलोरा दिगंबर श्रद्धा को अब तक तराशे गए महानतम हिंदू स्मारकों में से एक के साथ कंधे से कंधा मिलाकर खड़ा दिखाता है, जैन मुनियों द्वारा पाले गए एक राष्ट्रकूट सम्राट के अधीन — वही निजी श्रद्धा, जिसका अनुसरण यह इतिहास मथुरा से करता आया है, वही शैलकृत महत्वाकांक्षा, जो शीघ्र ही गोम्मटेश्वर को खड़ा करेगी, और वही श्रद्धावान दरबार, जिसने इस

युग को उसका सर्वोत्तम दिगंबर शास्त्र दिया — सब कुछ एक ही शताब्दी में साथ-साथ फलते-फूलते हुए।

अध्याय चौदह — होयसलकालीन जैन स्मारक और शिलालेख

१४.१ एक नई राजधानी, एक पुरानी आस्था

जब तक होयसल राजवंश ग्यारहवीं शताब्दी से कर्नाटक में उदय हुआ, द्वारसमुद्र — आज के हळेबीडु — से शासन करते हुए, इस क्षेत्र की दिगंबर श्रद्धा पहले से ही आठ शताब्दी गहरी थी, गंग राजाओं से होकर कदंबों तक, और अपनी सबसे प्राचीन स्मृति के अनुसार स्वयं चंद्रगुप्त और भद्रबाहु तक पीछे जाती हुई। होयसलों ने इस संसार को स्थापित नहीं किया, बल्कि इसे विरासत में पाया, और इसमें उनका अपना स्थान इस इतिहास की अधिक कोमल और अधिक रोचक कथाओं में से एक है।

१४.२ एक राजा का हृदय-परिवर्तन

बित्तिदेव लगभग ११०८ में होयसल सिंहासन पर बैठे, परंपरा के अनुसार जैन आस्था में पले-बढ़े हुए। उन्हें वैष्णव दार्शनिक रामानुजाचार्य की शिक्षा के अधीन आने, वैष्णव धर्म में दीक्षा लेने, और अपने नए गुरु से वह नाम प्राप्त करने के लिए स्मरण किया जाता है, जिससे इतिहास उन्हें जानता है: विष्णुवर्धन। यह इतिहास इस धर्मांतरण-कथा को उसी कोमल सावधानी से धारण करता है, जो यह घटना के पीढ़ियों बाद दर्ज हुई हर परंपरा को देता है — प्रिय स्मृति के रूप में, न कि किसी समकालीन अभिलेख के रूप में।

१४.३ एक परिवार, जिसने अपनी आस्था बनाए रखी

विष्णुवर्धन का अपना हृदय जो भी रहा हो, उनके परिवार की श्रद्धा कभी नहीं डगमगाई, और यह उनके अपने बाद के अनुदानों में दिखाई देती है। उनकी रानी, शांतला देवी, आजीवन एक श्रद्धावान जैन बनी रहीं, और स्वयं विष्णुवर्धन श्रवणबेलगोला और कंबदहळ्ळि की बसदियों को उदार भूमि-अनुदान देते रहे, अपनी ही विजयों का स्मरण उसी साँस में करते हुए। कंबदहळ्ळि में, पंचकूट बसदी — एक गंगकालीन स्थापना, जो अपने ब्रह्मदेव स्तंभ से सुशोभित है — आगे भी होयसलकालीन स्नेहपूर्ण देखभाल पाती रही, एक राजवंश की श्रद्धा दूसरे की श्रद्धा के ऊपर सहजता से टिकी हुई।

१४.४ हळेबीडु में गंगराज की भेंट

विष्णुवर्धन के अपने शासनकाल में श्रद्धा का सबसे स्पष्ट एकल कार्य उनके सेनापति गंगराज और गंगराज के पुत्र बोप्पदेव से आया, जिन्होंने ११३३ में हळेबीडु में पार्श्वनाथ बसदी का निर्माण करवाया, इसे विजय पार्श्वनाथ नाम देते हुए, युवा राजकुमार नरसिंह प्रथम के राज्याभिषेक को चिह्नित करने के लिए — एक शक्तिशाली श्रावक, अपने ही साधनों का उपयोग करते हुए, एक ही कार्य में अपनी आस्था और अपने राजा, दोनों का सम्मान करते हुए।

१४.५ हळेबीडु की बसदियाँ

अगले दशकों में इसमें दो और मंदिर जुड़े: शांतिनाथ बसदी, लगभग ११९२ में, राजा वीर बल्लाल द्वितीय के अधीन, और एक छोटी आदिनाथ बसदी, जिसने इस समूह को पूर्ण किया। पार्श्वनाथ बसदी इन तीनों में सबसे सुंदर बनी हुई है, इसके पॉलिशदार स्तंभ और अठारह फुट ऊँची पार्श्वनाथ मूर्ति आज भी राजवंश के अधिक प्रसिद्ध होयसलेश्वर मंदिर के निकट खड़ी हैं — यह प्रमाण कि हळेबीडु, अपने युग में, एक साथ एक से अधिक आस्थाओं की राजधानी था।

१४.६ दबाव में एक राज्य

फरवरी १३११ में, दिल्ली सल्तनत के सेनापति मलिक काफ़ूर ने स्वयं द्वारसमुद्र की घेराबंदी की; सबसे विस्तृत बचा हुआ विवरण एक हिंसक लूट के बजाय एक समझौते के तहत आत्मसमर्पण का वर्णन करता है, जिसमें राजा वीर बल्लाल तृतीय

ने कर चुकाया और अपना पद बनाए रखा। होयसल राज्य ने चौदहवीं शताब्दी के मध्य तक अपने अंतिम पतन से पहले उत्तर से और भी दशकों तक दबाव सहा, और यह इतिहास, जो वास्तव में दिखाया जा सकता है उसके प्रति निष्पक्ष रहते हुए, इस विशेष प्रकरण में हळेबीडु के अपने मंदिरों को अभिलेख से अधिक क्षति पहुँचने का दावा नहीं करता।

१४.७ हळेबीडु इस कथा को क्या छोड़ जाता है

एक राजा के अपने हृदय-परिवर्तन ने, चाहे उसका वास्तविक रूप जो भी रहा हो, कर्नाटक की आठ शताब्दी की दिगंबर श्रद्धा को मिटाया नहीं। शांतला देवी ने राजमहल के भीतर अपनी आस्था बनाए रखी; गंगराज और बोप्पदेव ने उसी राजा के शासनकाल में कर्नाटक की सबसे सुंदर बसदियों में से एक खड़ी की; और परिवार तथा समुदाय की श्रद्धा का वही शांत, निष्ठावान प्रतिमान, जिसने मथुरा से यह पूरा इतिहास आगे बढ़ाया है, होयसल कर्नाटक की अपनी जैन निर्माण-परंपरा को राजवंश की स्वतंत्रता के अंत तक ले गया। यह इतिहास अब उत्तर की ओर मुड़ता है, अध्याय आठ के बाद पहली बार कर्नाटक से बाहर, ग्वालियर, राजस्थान और बुंदेलखंड के मध्यकालीन हृदयस्थलों की ओर।

भाग छह

उत्तर एवं मध्य भारत के मध्यकालीन केंद्र

आठवीं से पंद्रहवीं शताब्दी ईस्वी

अध्याय पंद्रह — ग्वालियर दुर्ग की गोपाचल शैलकृत जैन विशालमूर्तियाँ

१५.१ एक पहाड़ी, जो तीर्थ बन गई

आज जो कोई भी ग्वालियर दुर्ग तक जाने वाले घुमावदार मार्ग पर चढ़ता है, वह पृथ्वी पर कहीं भी मिलने वाले दिगंबर श्रद्धा के महानतम खुले-आकाश ख़ज़ानों में से एक में प्रवेश करता है। दुर्ग को घेरने वाली बलुआ पत्थर की चट्टानें केवल दुर्गीकृत शैल-भित्तियाँ नहीं हैं — पंद्रहवीं शताब्दी के दौरान, तोमर राजाओं के अधीन, वे तीर्थंकरों का एक पर्वत बन गईं: लगभग सौ

विशालकाय और जीवन-आकार की मूर्तियाँ, सीधे जीवंत पत्थर से तराशी गईं, पंक्ति-दर-पंक्ति मुक्त आत्माएँ, ग्वालियर के मैदानों को निहारती हुई। यहाँ तक कि पीढ़ियों बाद इस स्थल पर आने वाले एक ब्रिटिश सर्वेक्षक, जेम्स बर्गेस, भी उस निरी श्रद्धामय ऊर्जा पर टिप्पणी किए बिना नहीं रह सके, जिसने इसे प्रेरित किया होगा — उन्होंने इसे "एक अनियंत्रित आवेग" कहा, जिसने एक संपूर्ण दुर्ग को ही एक मंदिर में बदल दिया।

१५.२ डूंगर सिंह, कीर्ति सिंह, और उनके कवि रइधू

दो तोमर राजाओं ने इस श्रद्धा-परिश्रम को अपनी राजकीय शक्ति दी: डूंगर सिंह और, उनके बाद, कीर्ति सिंह। उनके साथ स्वयं ग्वालियर के एक दिगंबर कवि-संत, रइधू, खड़े थे, जिनका जीवनकाल १३९३ से १४८९ तक रहा और जो पद्मावती पुरवाल जैन समुदाय से संबद्ध थे। रइधू कोई दूरस्थ दरबारी चाटुकार नहीं थे — वे डूंगर सिंह के अपने ही निमंत्रण पर रहे, तीर्थंकरों के जीवन का उत्सव मनाने वाली अपभ्रंश भक्ति-कविता का एक संपूर्ण साहित्य रचा, और मूर्ति-दर-मूर्ति, व्यक्तिगत रूप से उस प्रतिष्ठा — पवित्र प्राण-प्रतिष्ठा — का संचालन किया, जिसने पहाड़ी की हर नई तराशी गई मूर्ति को उपासना की वस्तु के रूप में जीवंत किया। यह रइधू के अपने ही हाथ और वाणी थे, जिन्होंने इस चट्टान के दो सबसे विशाल दैत्यों की प्राण-प्रतिष्ठा की।

१५.३ चट्टान के दैत्य

और वे सचमुच दैत्याकार हैं। भगवान आदिनाथ, प्रथम तीर्थंकर, की एक सत्तावन फुट ऊँची मूर्ति पूर्ण कायोत्सर्ग स्थिरता में चट्टान से उठती है — गोम्मटेश्वर, श्रवणबेलगोला, के समान ही विशाल स्तर पर, जो सात सौ वर्ष और आधे महाद्वीप की दूरी पर तराशी गई, फिर भी निस्संदेह उसी अखंड दृष्टि का भाग, जो यह दिखाती है कि एक मुक्त आत्मा कैसी दिखती है। कुछ ही दूरी पर सैंतालीस फुट ऊँचे पार्श्वनाथ शांत पद्मासन ध्यान में विराजमान हैं, जिन्हें जैन जगत में अपने प्रकार की सबसे बड़ी मूर्ति कहा जाता है। उनके चतुर्दिक चंद्रप्रभु, नेमिनाथ, महावीरस्वामी, और दर्जनों अन्य खड़े हैं — तीर्थंकरों की एक संपूर्ण सभा, ग्वालियर पर मौन प्रहरी।

१५.४ एक घाव, और एक उपचार

इतिहास ने श्रद्धा के इस पर्वत को अछूता नहीं छोड़ा। १५२७ में, जब ग्वालियर दुर्ग बाबर की सेनाओं के हाथों गिरा, इनमें से अनेक पवित्र मूर्तियों को विरूपित किया गया, उर्वाही द्वार पर और एक पत्थर की बावड़ी पर उनके सिर तोड़ दिए गए। यह ऐसा शोक था, जिसे ग्वालियर के दिगंबर समुदाय ने सीधे स्वीकार करके भुला नहीं दिया — समय के साथ, समुदाय ने स्वयं अनेक घायल मूर्तियों को पुनर्स्थापित किया, नए प्लास्टर के सिर लगाकर, ताकि तीर्थंकरों तक फिर से उनके पूर्ण रूप में पहुँचा जा सके। दुर्ग के अधिक शांत, अधिक दूरस्थ कोनों की मूर्तियाँ, जहाँ तक किसी सेना का पहुँचना कठिन था, इस क्षति से पूरी तरह बची रहीं और आज भी लगभग वैसी ही खड़ी हैं, जैसी रइधू ने स्वयं उन्हें देखा होगा।

१५.५ इस कथा में ग्वालियर का स्थान

ग्वालियर इस इतिहास में उस प्रमाण के रूप में खड़ा है कि वही श्रद्धा, जिसने मौर्य दरबार की छाया में लोहानीपुर धड़ को, और कर्नाटक की एक पहाड़ी पर गोम्मटेश्वर को तराशा था, पंद्रहवीं शताब्दी के उत्तर भारत में भी जीवंत थी और अभी भी असाधारण कार्य करने में सक्षम थी। लगभग सौ तीर्थंकर, एक ही दुर्ग-पहाड़ी से तराशे गए, एक ऐसे समुदाय द्वारा जिसे एक राजा का अनुग्रह और एक कवि-संत का मार्गदर्शन प्राप्त था, आज भी खड़े हैं — अधिकांश संपूर्ण, कुछ पुनर्स्थापित — जैसे यह इतिहास अब उत्तर के अन्य महान मध्यकालीन केंद्रों की ओर मुड़ता है: देवगढ़, राजस्थान, खजुराहो, और बुंदेलखंड के शांत मंदिर-नगर।

अध्याय सोलह — देवगढ़ के जैन मंदिर

१६.१ एक हज़ार मूर्तियों का दुर्ग

आज के उत्तर प्रदेश में, बेतवा नदी के ऊपर एक चट्टानी शिखर पर देवगढ़ खड़ा है — "देवताओं का दुर्ग" — और इसकी

दीवारों के भीतर, पहाड़ी भर में फैले हुए, लगभग उनतालीस दिगंबर जैन मंदिर हैं, जो दो हज़ार से भी अधिक तराशी गई तीर्थंकर, यक्ष और यक्षी मूर्तियों का घर हैं। यह, केवल गिनती में ही, विश्व में कहीं भी जैन शिल्प का सबसे बड़ा एकल संग्रह है, जो नौ शताब्दियों में धीरे-धीरे बना — लगभग आठवीं शताब्दी ईस्वी से सत्रहवीं शताब्दी तक — जब पीढ़ी-दर-पीढ़ी दिगंबर परिवार उसी पवित्र पहाड़ी पर मंदिर-पर-मंदिर जोड़ते गए।

१६.२ भगवान शांतिनाथ का घर

इस समूह के हृदय में मंदिर बारह, शांतिनाथ मंदिर, खड़ा है — पहाड़ी का सबसे प्राचीन और सबसे पूजनीय मंदिर, जो ८६२ ईस्वी से पहले ही खड़ा और पूजित था। इसके भीतर भगवान शांतिनाथ की एक सुंदर गुलाबी-लाल मूर्ति विराजमान है, साढ़े बारह फुट ऊँची, पूर्ण पद्मासन में बैठी हुई, जिसकी बाहरी दीवारों पर जैन परंपरा की चौबीस यक्षियाँ शोभायात्रा में उत्कीर्ण हैं — एक अकेला मंदिर, जिसने एक हज़ार वर्ष से भी अधिक समय तक अकेले ही श्रद्धालुओं की भक्ति को आकर्षित किया है।

१६.३ एक पहाड़ी, जो बढ़ती ही रही

देवगढ़ को इतना उल्लेखनीय बनाने वाली बात कोई एक मंदिर नहीं, बल्कि यह संचय है — शताब्दी-दर-शताब्दी, व्यापक बुंदेलखंड क्षेत्र में राजवंश-दर-राजवंश, परिवार और संघ इसी पहाड़ी में अपने-अपने मंदिर जोड़ते गए, यहाँ तक कि इस स्थल में एक-दो नहीं, बल्कि उनतालीस स्मारक हो गए, और कुछ दर्जन नहीं, बल्कि दो हज़ार से भी अधिक मूर्तियाँ, जिनमें से चार सौ से अधिक को बाद के सूचीकर्ताओं ने उनकी विशेष रूप से उत्कृष्ट और असामान्य नक्काशी के लिए अलग से चिह्नित किया। देवगढ़ कभी भी गोम्मटेश्वर अथवा एलोरा की गुफाओं की तरह एक ही राजकीय परियोजना के रूप में नहीं बनाया गया; यह उस प्रकार बढ़ा, जैसे कोई जीवंत परंपरा बढ़ती है — एक बार में एक श्रद्धावान परिवार की भेंट, नौ अखंड शताब्दियों में।

१६.४ देवगढ़ इस कथा के लिए क्यों महत्वपूर्ण है

यदि ग्वालियर यह दिखाता है कि एक ही राजकीय पीढ़ी की श्रद्धा निर्माण की एक तीव्र लहर में क्या कुछ प्राप्त कर सकती है, तो देवगढ़ इसके विपरीत और उतना ही महत्वपूर्ण सत्य दिखाता है: कि दिगंबर श्रद्धा को नौ शताब्दियों तक स्वयं को टिकाए रखने के लिए राजकीय संरक्षण की आवश्यकता नहीं थी। इसके चतुर्दिक साम्राज्य उठते और गिरते रहे, बहुत समय बाद भी, देवगढ़ की पहाड़ी बस नए मंदिर, नई मूर्तियाँ, नए अभिलेख पाती रही — बुंदेलखंड के सामान्य श्रद्धालु चुपचाप पृथ्वी पर जैन शिल्प के सबसे बड़े ख़ज़ाने का निर्माण करते रहे, बिना कभी किसी एक सम्राट के आदेश की आवश्यकता के।

अध्याय सत्रह — चौहान वंश और बिजोलिया पार्श्वनाथ शिलालेख

१७.१ बिजोलिया के पाँच मंदिर

राजस्थान के भीलवाड़ा ज़िले की पहाड़ी भूमि में, बिजोलिया नगर इस इतिहास के अधिक शांत, किंतु ऐतिहासिक दृष्टि से सबसे समृद्ध दिगंबर स्थलों में से एक को धारण करता है। ११६० ईस्वी में, चाहमान — चौहान — राजा सोमेश्वर के संरक्षण में, महाजन लाला नामक एक श्रद्धावान श्रावक ने बिजोलिया में पाँच जैन मंदिर बनवाए, जिनमें प्रमुख मंदिर तेईसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ को समर्पित है। एक दशक बाद, ११७० ईस्वी में, इसी पवित्र स्थल पर चट्टान में दो अभिलेख उत्कीर्ण किए गए, और यही दो अभिलेख हैं, जिन्होंने बिजोलिया को राजस्थान के इतिहासकारों में आज भी चर्चित एक नाम बना दिया है।

१७.२ एक राजा की वंशावली, एक जिन के निकट उत्कीर्ण

दोनों बिजोलिया अभिलेखों में से बड़ा भगवान पार्श्वनाथ को अभिवादन के साथ आरंभ होता है, इससे पहले कि यह राजा सोमेश्वर के राज्याभिषेक और उनकी राजवंशीय पंक्ति, शाकंभरी के चाहमान राजाओं की वंशावली को अभिलेखित करने की ओर मुड़े। एक ही पत्थर पर एक साथ संरक्षित पाना एक चौंकाने वाली बात है: श्रद्धा और राजवंश, दोनों एक ही साँस में — एक राजपूत राजा का अपना पारिवारिक इतिहास, उनके अपने संरक्षण में एक दिगंबर मंदिर स्थल पर दर्ज। दूसरा अभिलेख,

स्वयं मंदिर के द्वार के निकट उत्कीर्ण, महिधर के पुत्र मनोरथ नामक एक भक्त की श्रद्धा को अभिलेखित करता है — एक राजा के नाम के साथ संरक्षित एक और सामान्य परिवार का नाम।

१७.३ उत्तम शिखर पुराण

बिजोलिया दिगंबर स्मृति में एक और विशिष्टता रखता है: परंपरा इसे उसी स्थान के रूप में मानती है, जहाँ एक जैन भक्ति-रचना, उत्तम शिखर पुराण, लिखी गई थी, और इस स्थल के दो अभिलेखों में से दूसरा स्वयं उसी परंपरा की एक कविता है। एक साथ तीर्थस्थान, राजकीय संरक्षण, और साहित्य-रचना का स्थान।

१७.४ बिजोलिया इस कथा के लिए क्यों महत्वपूर्ण है

यह कि वही राजपूत राजघराना, जिसे मुख्यतः दिल्ली सल्तनत के साथ अपने दीर्घ संघर्ष के लिए स्मरण किया जाता है, बिजोलिया के पाँच जैन मंदिरों के पीछे भी खड़ा रहा हो, और उसके अपने राजा का राज्याभिषेक पार्श्वनाथ को अभिवादन के साथ उसी साँस में अभिलेखित किया गया हो, यह एक ऐसा स्मरण है, जो यह इतिहास पहले भी कई बार दे चुका है: मध्यकालीन भारत में दिगंबर श्रद्धा कभी भी किसी एक राजवंश अथवा किसी एक संरक्षक-जाति तक सीमित नहीं रही।

अध्याय अठारह — खजुराहो जैन मंदिर समूह

१८.१ मंदिर-नगर का एक कोना

खजुराहो विश्व में अपने महान चंदेलकालीन हिंदू मंदिरों के लिए जाना जाता है, किंतु उसी मंदिर-नगर के पूर्वी छोर पर दिगंबर मंदिरों का एक छोटा, किंतु समान रूप से अनमोल समूह खड़ा है, जो आज भी सक्रिय उपासना में है, जिनमें सबसे उत्कृष्ट पार्श्वनाथ मंदिर है — जिसका निर्माण, प्रमाणों के अनुसार, चंदेल राजा धंग के अधीन ९५० और ९७० ईस्वी के बीच हुआ, ठीक उसी क्षण, जब राजवंश कुछ ही दूरी पर अपने सबसे प्रसिद्ध हिंदू स्मारक खड़े कर रहा था।

१८.२ एक मंदिर, जिसने अपना नाम बदला

परंपरा और मंदिर की अपनी वास्तुकला दोनों संकेत देते हैं कि इसे पहले भगवान आदिनाथ के मंदिर के रूप में बनाया और प्रतिष्ठित किया गया था। शताब्दियों बाद, इस स्थल के एक लंबे शांत काल से गुज़रने के बाद, उन्नीसवीं शताब्दी के सर्वेक्षक अलेक्जेंडर कनिंघम को इसका गर्भगृह खाली मिला; एक श्रद्धावान जैन समुदाय ने १८४७ में इस मंदिर का जीर्णोद्धार किया, और १८६० में इसके भीतर पार्श्वनाथ की वह मूर्ति स्थापित की, जिससे यह मंदिर आज जाना जाता है, जबकि आदिनाथ की मूर्ति को पीछे के एक मंदिर में अपना स्थान दिया गया — ताकि दोनों तीर्थंकर, मंदिर के पहले और वर्तमान संरक्षक, एक ही छत के नीचे सम्मानित हों।

१८.३ पहिला की भेंट, और संख्याओं की एक पहेली

मंदिर की द्वार-चौखट पर एक अभिलेख, जिसकी तिथि ९५४ ईस्वी है, पहिला नामक एक भक्त द्वारा किए गए दान अभिलेखित करता है, जिन्हें उनके अपने शब्दों में जिनेंद्र के एक श्रद्धावान अनुयायी के रूप में वर्णित किया गया है — मथुरा में वासु अथवा बिजोलिया में मनोरथ की भाँति एक और सामान्य श्रावक का नाम, जिसकी उदारता उससे एक हज़ार वर्ष अधिक जीवित रही। यह मंदिर एक और ख़ज़ाना भी रखता है, जिसका शिल्प से कोई संबंध नहीं है: इसके पत्थर में विश्व में ज्ञात सबसे पुराने चार-गुणा-चार जादुई वर्गों में से एक उत्कीर्ण है, जिसकी सोलह संख्याएँ इस प्रकार व्यवस्थित हैं कि प्रत्येक पंक्ति, स्तंभ और विकर्ण का योग समान रूप से चौंतीस आता है।

१८.४ खजुराहो इस कथा के लिए क्यों महत्वपूर्ण है

खजुराहो में खड़े होकर, एक तीर्थयात्री कुछ ही मिनटों की पैदल दूरी में मध्यकालीन भारत की सबसे भव्य हिंदू मंदिर-

वास्तुकला से एक समान प्राचीनता और समान राजकीय अनुग्रह वाले दिगंबर मंदिर तक पहुँच जाता है, जिसे उसी चंदेल राजवंश ने खड़ा किया — यह प्रमाण कि मध्यकालीन भारत में दिगंबर जैन धर्म उन्हीं दरबारों और उसी कलात्मक संस्कृति का एक पूर्ण और सम्मानित भागीदार था, जिसने भारत के महानतम मध्यकालीन मंदिर-नगरों को जन्म दिया।

अध्याय उन्नीस — सोनागिरि, पापौराजी और बुंदेलखंड के दिगंबर तीर्थ

१९.१ स्वर्णिम पहाड़ी

मध्य प्रदेश के दतिया के निकट मैदानों से उठता हुआ सोनागिरि है — स्वर्णिम पहाड़ी — संपूर्ण बुंदेलखंड के सबसे प्रिय दिगंबर तीर्थों में से एक। इसकी दो पहाड़ियों और १३२ एकड़ भूमि में सौ से भी अधिक मंदिर खड़े हैं, इनमें से सतहत्तर स्वयं पहाड़ी पर और छब्बीस और नीचे गाँव में — जिसने इस स्थल को श्रद्धालुओं के बीच एक स्नेहपूर्ण उपाधि दिलाई है: लघु सम्मेद शिखर। परंपरा मानती है कि भगवान चंद्रप्रभु, आठवें तीर्थंकर, यहाँ सत्रह बार समवसरण में पधारे, और यह कि युगों-युगों में, साढ़े पाँच करोड़ तपस्वी आत्माओं ने इसी एक पहाड़ी से मोक्ष प्राप्त किया है।

१९.२ मंदिर सत्तावन और कुंद-कुंद नगर

सोनागिरि का प्रमुख मंदिर, मंदिर संख्या सत्तावन, भगवान चंद्रप्रभु की ग्यारह फुट ऊँची खड़ी मूर्ति रखता है, और निकट ही, महान आचार्य कुंदकुंद के सम्मान में आज कुंद-कुंद नगर कहलाने वाले स्थान पर, अठारह फुट ऊँचा बाहुबली खड़ा है। सोनागिरि ने, शताब्दियों में, दिगंबर परंपरा के कुछ महानतम आचार्यों को अपनी ढलानों पर रहने और अध्ययन करने के लिए आकर्षित किया है, जिनमें आचार्य शुभचंद्र और भर्तृहरि सम्मिलित हैं।

१९.३ पापौराजी, प्राचीन पंपापुर

कुछ ही दूरी पर, टीकमगढ़ के निकट, पापौराजी खड़ा है — जो कभी पंपापुर के नाम से जाना जाता था — अपने एक सौ आठ मंदिरों का एक परकोटेदार तीर्थस्थल, जिसका प्रमुख मंदिर भगवान आदीश्वर की ढाई फुट ऊँची काले पत्थर की मूर्ति एक भूमिगत कक्ष में विराजमान रखता है, विक्रम संवत् की बारहवीं शताब्दी में रखे गए एक अभिलेख के निकट। यहाँ के मंदिरों का १७१८ में तीन आदरणीय आचार्यों के मार्गदर्शन में सस्नेह जीर्णोद्धार और विस्तार किया गया, और यह स्थल आज भी वह स्थान बना हुआ है, जहाँ श्रद्धालु प्रत्येक कार्तिक मास में आध्यात्मिक पुण्य और, परंपरा के अनुसार, कष्टों से मुक्ति की खोज में आते हैं।

१९.४ बुंदेलखंड इस कथा के लिए क्यों महत्वपूर्ण है

सोनागिरि और पापौराजी, इसी भाग में पहले आए देवगढ़ के साथ मिलकर, बुंदेलखंड को दिगंबर श्रद्धा के महान, चुपचाप टिके रहने वाले हृदयस्थलों में से एक के रूप में दिखाते हैं — मंदिर, जो एक हज़ार वर्षों में सामान्य परिवारों की इच्छा से उठते और नवीनीकृत होते रहे, केवल पुरातात्विक कौतूहल की वस्तुएँ नहीं, बल्कि आज भी जीवंत तीर्थयात्रा के स्थान बने हुए।

भाग सात

सल्तनत-मुग़लकालीन अवशेष

पंद्रहवीं से अठारहवीं शताब्दी ईस्वी

अध्याय बीस — बीरछबीली टीला, सीकरी: फ़तेहपुर सीकरी के नीचे दबा जैन नगर

२०.१ एक नगर के नीचे दबा एक नगर

यह इतिहास, कई अध्याय पहले, एक ऐसे उदाहरण से आरंभ हुआ था, जो आपने यह बताने के लिए दिया था कि आप इस पुस्तक को किस रूप में पढ़ना चाहते हैं — फ़तेहपुर सीकरी नामक एक स्थान, और बीरछबीली टीला नामक एक टीला। अब उचित यही है कि यह कथा वहीं लौटे, समय में अपने उचित स्थान पर, क्योंकि अकबर की प्रसिद्ध मुग़ल राजधानी के लाल बलुआ पत्थर के नीचे जो दबा है, वह इस संपूर्ण इतिहास की सबसे भावुक कर देने वाली पुनर्खोजों में से एक है: एक प्राचीनतर नगर, एक दिगंबर नगर, जो किसी भी मुग़ल सम्राट की दृष्टि उस पर पड़ने से शताब्दियों पहले इसी भूमि पर फला-फूला।

२०.२ उत्खनन में क्या मिला

१९९९ और २००० के बीच, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण ने चाबेली टीला, जिसे बीरछबीली टीला भी कहा जाता है, में उत्खनन आरंभ किया। भूमि से जो निकला, उसने स्थानीय समुदाय को भी चकित कर दिया: सैकड़ों जैन मूर्तियाँ, इनमें से अनेक लगभग एक हज़ार वर्ष पुरानी, साथ ही अपने ही अभिलेख वाला एक मंदिर-नींव-पत्थर, और तीर्थंकरों तथा दिगंबर श्रद्धामय कला में उनके साथ चलने वाले दिव्य प्राणियों की मूर्ति-दर-मूर्ति।

२०.३ सैकृक्य, सीकरवारों का नगर

इस स्थान का पुराना नाम सैकृक्य था — वही नाम, जिससे "सीकरी" स्वयं व्युत्पन्न होता है — और इस स्थल से प्राप्त एक अभिलेख, जो श्रुतदेवी, शास्त्र की देवी, की एक मूर्ति के आधार पर उत्कीर्ण है, इस नाम को सीधे अभिलेखित करता है। इस काल में स्थानीय शासन सीकरवार राजपूतों से संबद्ध है, और "वज्रमराज्य" का उल्लेख करने वाला एक अभिलेख कुछ विद्वानों द्वारा कच्छपघात राजवंश से जोड़ा गया है, जिन्होंने गुप्त और मध्यकालीन शताब्दियों में चंबल क्षेत्र के इस भाग पर आधिपत्य रखा। यह एक छोटा, मार्मिक विवरण है कि शताब्दियों में सीकरी के दोनों नाम, विजयपुर और फ़तेहपुर, ठीक वही अर्थ रखते हैं: विजय का नगर।

२०.४ समय ने सैकृक्य के साथ क्या किया

एक दिगंबर तीर्थ और व्यापारिक केंद्र के रूप में सैकृक्य का दीर्घ जीवन सहजता से समाप्त नहीं हुआ। उत्खनित प्रमाण — टूटी और दबी हुई मूर्तियाँ, जानबूझकर की गई क्षति के चिह्न दिखाती मूर्तियाँ — इस बात की ओर संकेत करते हैं कि अकबर द्वारा अपनी नई राजधानी के लिए इसी भूमि को चुने जाने से पहले यहाँ गंभीर उथल-पुथल का एक काल रहा था। यह ईमानदारी से और बिना किसी अतिशयोक्ति के दर्ज करना पर्याप्त है कि एक फलता-फूलता दिगंबर नगर कभी वहाँ खड़ा था, जहाँ बाद में मुग़ल दरबार ने अपनी सबसे प्रसिद्ध राजधानी बनाई।

२०.५ सीकरी इस कथा के लिए क्यों महत्वपूर्ण है

इस इतिहास के मध्यकालीन अध्यायों को सीकरी पर समाप्त करने में कुछ उपयुक्त है। इस पुस्तक ने जिस भी राजवंश का अनुसरण किया, उसने ऐसे दिगंबर मंदिर, मूर्तियाँ और अभिलेख छोड़े, जो स्वयं उस राजवंश से अधिक जीवित रहे। सैकृक्य इसी प्रतिमान को अपने सबसे शाब्दिक रूप में दिखाता है — एक संपूर्ण जैन नगर, इतनी पूर्णता से भुला दिया गया कि एक मुग़ल सम्राट ठीक उसके ऊपर अपनी राजधानी बना सका, आठ सौ वर्ष तक फिर से खोजे जाने की प्रतीक्षा करता रहा — किसी टिप्पणी के रूप में नहीं, बल्कि सैकड़ों तीर्थंकरों के रूप में, आज भी पहचानने योग्य, आज भी सम्मान पाने योग्य पर्याप्त संपूर्ण, उसी आस्था द्वारा फिर से प्रकाश में लाए गए, जिसने उन्हें सर्वप्रथम वहाँ रखा था।

अध्याय इक्कीस — कारकल और मूडबिद्री: विजयनगरकालीन कर्नाटक की विशालमूर्तियाँ

२१.१ सांतर राजा और एक दूसरा बाहुबली

चावुंडराय द्वारा श्रवणबेलगोला में बाहुबली को सत्तावन फुट कर्नाटक के आकाश में खड़ा करवाए जाने के साढ़े चार शताब्दी बाद, वही श्रद्धा एक भिन्न राजघराने के अधीन नई अभिव्यक्ति पाती है। १४३२ ईस्वी में, सांतर राजवंश के वीर पांड्य भैररस वोडेयर ने, अपने आध्यात्मिक गुरु, कारकल जैन मठ के भट्टारक ललितकीर्ति के परामर्श पर, कारकल में एक दूसरा महान एकाश्म बाहुबली बनवाने का आदेश दिया — बयालीस फुट ऊँचा, अस्सी टन से अधिक भार वाले ग्रेनाइट के एक ही खंड से तराशा गया, जानबूझकर श्रवणबेलगोला की महाप्रस्तर मूर्ति के अनुकरण में खड़ा किया गया। कारकल का बाहुबली आज भी अपने प्रकार की दूसरी सबसे ऊँची मूर्ति है, और आज भी, हर बारह वर्ष में, अपना महामस्तकाभिषेक पाता है।

२१.२ दक्षिण की जैन काशी

कारकल से कुछ ही दूरी पर मूडबिद्री स्थित है, एक ऐसा नगर, जिसने चौदहवीं से सोलहवीं शताब्दी के दौरान सबसे ऊँचे श्रद्धामय सम्मान की एक उपाधि अर्जित की: दक्षिण भारत की जैन काशी। आज इस नगर में अठारह बसदियाँ खड़ी हैं, स्थानीय चौटा शासकों और उनके विजयनगर अधिपतियों के शताब्दियों के निरंतर संरक्षण की विरासत।

२१.३ हज़ार स्तंभ

मूडबिद्री के अठारह मंदिरों में सबसे महान त्रिभुवन तिलक चूड़ामणि बसदी है, जो हज़ार-स्तंभ मंदिर के नाम से, अथवा अपने प्रधान देवता के नाम से, चंद्रनाथ बसदी के नाम से अधिक जानी जाती है। १४३० ईस्वी से चौटा शासक देवराय वोडेयर द्वारा, स्वयं विजयनगर सम्राट द्वारा प्रदत्त भूमि पर बनवाया गया, इस मंदिर को पूर्ण होने में बत्तीस वर्ष और तीन निर्माण-चरण लगे। प्रत्येक स्तंभ पृथक रूप से तराशा गया है, कोई दो एक-समान नहीं, और मंदिर का पचास फुट ऊँचा मानस्तंभ एक रानी, नागला देवी, ने खड़ा करवाया। गर्भगृह के भीतर आठ फुट ऊँचे कांस्य चंद्रनाथ विराजमान हैं, और बाहरी दीर्घाओं के साथ, उत्कीर्ण हाथी और पट्टिकाएँ कर्नाटक से कहीं दूर के दृश्य धारण करती हैं — चीनी अजगर, अरबी घोड़े, अफ़्रीकी जिराफ़ — इस मंदिर को वित्तपोषित करने वाले व्यापारी परिवारों की यात्रा और व्यापार की दूरी का एक सुंदर अभिलेख।

२१.४ कारकल और मूडबिद्री इस कथा के लिए क्यों महत्वपूर्ण हैं

पंद्रहवीं शताब्दी में कारकल और मूडबिद्री में खड़े होकर, एक तीर्थयात्री को दिगंबर जैन धर्म पीछे हटता हुआ नहीं, बल्कि आज भी नई महाप्रस्तर मूर्तियों का निर्माण करवाता हुआ, आज भी अपने संरक्षकों के सामर्थ्य के अनुसार सबसे विशाल और सबसे अलंकृत मंदिर बनवाता हुआ मिलता — स्मारकीय राजकीय संरक्षण का अंतिम महान युग, इससे पहले कि अगला अध्याय जाँचने वाले औपनिवेशिक पुनर्खोज का युग आए।

भाग आठ

औपनिवेशिक पुनर्खोज एवं आधुनिक पुरातत्व

उन्नीसवीं शताब्दी — वर्तमान

अध्याय बाईस — अलेक्जेंडर कनिंघम, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, और दिगंबर भारत की आधुनिक पुनर्खोज

२२.१ एक सैनिक, जो भारत का पहला पुरातत्वविद बना

एक नाम इस संपूर्ण इतिहास में बार-बार, चुपचाप प्रकट होता रहा है, और अब समय आ गया है कि उसे अपना ही अध्याय दिया जाए। अलेक्जेंडर कनिंघम, जिनका जन्म १८१४ में लंदन में हुआ, उन्नीस वर्ष की आयु में एक युवा अभियंता के रूप में भारत पहुँचे, और वहीं, जेम्स प्रिंसेप — वही विद्वान, जिन्होंने हाथीगुम्फा अभिलेख की पहली आँख-प्रति बनाई थी — की मैत्री के अधीन, भारत के दबे हुए अतीत के प्रति कनिंघम की अपनी आजीवन श्रद्धा ने पहली जड़ें जमाईं। १८६१ में सैन्य सेवा से सेवानिवृत्त होकर, वे भारत के पहले पुरातात्विक सर्वेक्षक बने और उस संस्था की नींव रखी, जो आगे चलकर भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण बनी, अपने संपूर्ण जीवनकाल में व्यक्तिगत रूप से सात सौ से भी अधिक स्थलों का सर्वेक्षण किया।

२२.२ वह व्यक्ति, जो बार-बार दिगंबर भारत को खोजता रहा

यह कनिंघम ही थे, जिन्होंने १८७७ में हाथीगुम्फा अभिलेख का अनुरेखण और पुनर्प्रतिलेखन किया, अंततः खारवेल के अपने ही शब्दों की पुष्टि में सहायता दी। यह कनिंघम ही थे, जिन्होंने १८७१ में कंकाली टीला पर पहली खाइयाँ खोलीं और एक दशक बाद लौटे, फ्यूहरर के अपने उत्खनन द्वारा उसके नीचे दबे महान स्तूप को उजागर किए जाने से कई वर्ष पहले। और यह कनिंघम की अपनी "कॉर्पस इंस्क्रिप्शनम इंडिकारम" और भारतीय अभिलेख-विज्ञान का वह अनुशासन था, जिसे बनाने में उन्होंने इतना योगदान दिया, जिसने उनके बाद के प्रत्येक विद्वान — बार्ली में ओझा, लोहानीपुर में जायसवाल, दर्जनों स्थलों पर सिरकार — को वे ही औज़ार दिए, जिनसे दिगंबर भारत की दबी हुई आवाज़ को फिर से पढ़ा जा सका।

२२.३ वह पीढ़ी, जो पीछे-पीछे आई

अलोइस एंटन फ्यूहरर मथुरा के स्तूप को प्रकाश में लाए। भगवान लाल इंद्रजी ने सर्वप्रथम खारवेल के अपने ही नाम को सही ढंग से पढ़ा। जेम्स बर्गेस ने बादामी, ऐहोल और ग्वालियर का सर्वेक्षण उस दृष्टि से किया, जो एक ही चट्टान पर सौ विशाल मूर्तियों के पीछे की श्रद्धा को पहचान सके। के. पी. जायसवाल ने लोहानीपुर के धड़ का दस्तावेज़ीकरण किया और कुम्हरार में मौर्यकालीन सभा-भवन को उजागर करने में सहायता के लिए पाटलिपुत्र लौटे। जी. एस. गई ने दुर्जनपुर में रामगुप्त की पहेली को सुलझाया; डी. सी. सिरकार ने बार्ली से हाथीगुम्फा से दुर्जनपुर तक, वाचन-दर-वाचन को परिष्कृत किया। प्रत्येक ने अपने कार्यकाल का एक भाग इस इतिहास को फिर से दिन के प्रकाश में लाने के लिए अर्पित किया।

२२.४ एक जीवंत परंपरा, केवल एक दबी हुई नहीं

इस इतिहास को जो बात विशिष्ट बनाती है, वह यह है कि इसमें लगभग कुछ भी दबा हुआ नहीं रहा। श्रवणबेलगोला के गोम्मटेश्वर और कारकल के अपने बाहुबली आज भी हर बारह वर्ष में अपना महामस्तकाभिषेक पाते हैं, अगला श्रवणबेलगोला में २०३० में होना निर्धारित है। कनिंघम द्वारा स्थापित सर्वेक्षण आज भी इस पुस्तक में देखे गए हर स्थल की रक्षा करता है। और यह कार्य रुका नहीं है: यह बस १९९९ और २००० जितना हाल ही में था, जब पुरातत्वविदों ने चाबेली टीला की भूमि खोली और अकबर की अपनी राजधानी के नीचे एक संपूर्ण भुला दिया गया दिगंबर नगर पाया, जो फिर से पहचाने जाने की प्रतीक्षा में था।

२२.५ संपूर्ण वृत्तांत, पीछे मुड़कर देखते हुए

यह इतिहास राजस्थान के एक गाँव में मिले तेरह इंच के टूटे पत्थर, और पटना में भूमि से निकाले गए दो फुट के नग्न धड़ के साथ आरंभ हुआ था। यह, बाईस अध्यायों और लगभग बाईस सौ वर्षों बाद, एक मुग़ल सम्राट के अपने महल-प्रांगण के नीचे से उठाई गई सैकड़ों मूर्तियों के साथ समाप्त होता है। इनके बीच में एक कलिंग राजा के अपने उत्कीर्ण शब्द, एक कुषाण नगर का दानदाता-अभिलेखों का वन, एक गुप्त राजकुमार जो अपने ही राजवंश द्वारा भुला दिए जाने के बाद जैन पत्थर में सुरक्षित रह गया, दो कर्नाटक पहाड़ियों पर चार शताब्दियों के अंतराल पर दो बार खड़ी की गई सत्तावन फुट की मूर्ति, अब तक तराशे गए सबसे महान हिंदू स्मारक के निकट काटे गए गुफा-मंदिर, तीर्थंकरों के एक पर्वत में बदल दिया गया एक दुर्ग, और मंदिर-पर-मंदिर, टीला-पर-टीला, प्रत्येक निर्मित, कभी-कभी टूटा, और अधिकांश मामलों में सस्नेह पुनर्निर्मित, उस समुदाय द्वारा, जिसने कभी भी यह विश्वास करना नहीं छोड़ा कि एक मुक्त आत्मा की निर्वस्त्र, अनलंकृत आकृति पत्थर में तराशे जाने योग्य थी। यही वह कथा है, जिसे यह पुस्तक कहने के लिए निकली थी — और यह वास्तव में कभी समाप्त नहीं हुई, केवल आगे बढ़ती रही, आज भी विंध्यगिरि पहाड़ी पर चढ़ते तीर्थयात्रियों तक।

स्रोत सूची

Jain, Kamta Prasad. Some Historical Jaina Kings and Heroes. Arrah: Central Jaina Publishing House, 1941.

Ojha, Gaurishankar Hirachand. Original publication of the Barli inscription reading and Rajasthan epigraphy surveys.

Sircar, D. C. Readings of the Barli, Hathigumpha, and Durjanpur inscriptions.

Hooja, Rima. Reassessment of the Barli inscription's date.

"Barli Inscription," "Lohanipur torso," "Kumhrar," "Chandragiri hill," "Hathigumpha inscription," "Minor

Inscriptions of Kharavela," "Kankali Tila," "Jain stupa," "Ayagapata," "State Museum, Lucknow," "Balatkara Gana," "Vasishka," "Shvetambara," "Ramagupta," "Gupta art," "Shantinatha Temple Ramtek," "Mayurasharma," "Kakusthavarma," "Pulakeshin I," "Mangalesha," "Ravikirti," "Western Ganga Dynasty," "Avinita," "Shravanabelagola inscription of Nandisena," "Gommateshwara statue," "Chavundaraya," "Gommatasara," "The multireligious caves at Ellora," "Jinasena," "Virasena," "Vishnuvardhana," "Jain temples, Halebidu," "Panchakuta Basadi, Kambadahalli," "Siege of Dwarasamudra," "Gopachal rock-cut Jain monuments," "Raidhu," "Jain temples of Deogarh," "Parshvanatha temple, Khajuraho," "Alexander Cunningham," "Archaeological Survey of India." Wikipedia, The Free Encyclopedia. Accessed 2026.

Jayaswal, K. P. Excavation reports on Lohanipur and Kumhrar; re-editing of the Hathigumpha inscription.

Dhaky, M. A. Art-historical assessment of the Lohanipur torso.

Dhammika, S. (trans.). The Edicts of King Ashoka, Pillar Edict VII, via Puratattva.in.

"Shravanabelagola and its Mauryan Connection." Live History India.

Bhagwan Lal Indraji. Identification of King Kharavela in the Hathigumpha inscription.

Quintanilla, Sonya Rhie. On the "Kalinga Jina" passage and early Jain image-worship.

"Udayagiri Cave Complex" and "Udayagiri Complex — Cave 1: Rani-Gumpha." Puratattva.in.

"Kankali Tila: Mathura's Jain Connection." Live History India.

Sinha, Shanti Swaroop. "Importance of Jaina Inscriptions and Images from Kankali-Tila, Mathura." Zenodo.

Early Inscriptions of Mathura: A Study. Archive.org.

Narasimha Murthy, P. N. "The Kadambas of Banvasi." jainology.blogspot.com / jainsamaj.org.

"Badami Cave 4: A Journey into Jain Heritage." YatrikaOne.com.

"Chandragupta Basadi." Jain Heritage Centres.

"Chavundaraya." Shri Kshetra Shravanabelagola (shravanabelagola.org).

Burgess, James. Archaeological Survey observations on Tomar-era Gwalior and the Badami-Aihole caves.

"Deogarh." Jain Heritage Centres.

"Bijolia Parshvanath Temple." Wikipedia.

"Sonagiri." Encyclopedia of Jainism.

"Paporaji Tirth." Jainsite.com.

"Fatehpur Sikri was once a Jain pilgrimage centre, reveals a book." India TV News.

"Fatehpuri Sikri was built on ruins of Hindu and Jain City Saikrikya." Vedic Tribe.

"Thousand Pillared Jain Temple, Tribhuvana Tilaka Choodamani Basadi, Moodubidri." Trayaan.com.

"Moodabidri — 1000 Pillars Temple and the Group of 18 Temples." Jain Heritage Centres.

Cunningham, Alexander. Corpus Inscriptionum Indicarum (1877); The Bhilsa Topes (1854); The Ancient Geography of India (1871).